॥ श्रीहरिः ॥

परमानन्दकी खेती

जयदयाल गोयन्दका

॥ श्रीहरिः ॥

रमानन्दकी खेती

लेखक

जयदयाल गोयन्दका

प० खे० १—

पंजी० कार्यालय : 4527 क्लौथ मार्किट, दिल्ली
दूरभाष :

रामलीला महोत्सव १९९२

(कार पार्किंग - लाल किला मैदान)

दूरभाष : कार्यालय : 2912388, 2526064
घर : 7219360, 7218314

सुखबीर सरन अग्रवाल

महासचिव

1994, कटरा लच्छू सिंह, फव्वारा, दिल्ली-110006

॥ श्रीहरिः ॥

निवेदन

परमात्मा परमानन्द स्वरूप है। वही मनुष्यमात्रका ध्येय और प्राप्तव्य भी है। उसकी प्राप्तिके बाद और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता और बिना प्राप्त किये मनुष्य-जीवन व्यर्थ हो जाता है। जिस प्रकार ठीक समयपर खेती करना सफल होता है उसी प्रकार समय रहते ही हमें इसी जीवनमें [illegible]गति-शीघ्र उसकी प्राप्तिका प्रयत्न कर लेना चाहिये। उस [illegible] शाश्वत, दिव्य और आनन्दसे परिपूर्ण (परमात्मा) की [illegible] साधनोंका अनुसरण आवश्यक और अभीष्ट [illegible] शुभाशु[illegible] खकने इस पुस्तकमें सरल, सुबोध भाषामें [illegible] होनेसे [illegible]या है।

कैसे [illegible]

भगव[illegible] श्रीगोयन्दकाजीका बहुमूल्य आध्यात्मिक चिन्तन और साधनोपयोगी दिग्दर्शन गृहस्थ, साधक और जिज्ञासु सभी श्रेणीके लोगोंके लिये परम उपादेय और उत्तम पथ-प्रदर्शक सिद्ध हो सकता है। इस दृष्टिसे गीताप्रेससे प्रकाशित श्रीगोयन्दकाजीके सभी ग्रन्थ तथा पुस्तकें सर्वथा पठनीय, मननीय और जीवनमें उतारने योग्य हैं।

'तत्त्व-चिन्तामणि'से लिये गये प्रस्तुत पुस्तकके इन इक्कीस लेखोंमें शास्त्रोंका सार और लेखक महानुभावका अनुभवयुक्त चिन्तन-तत्त्व समाहित है। परमानन्दकी खेती, निष्कामभावकी महत्ता, सत्सङ्गके अमृत-कण, भगवदाश्रयसे लोक-परलोकका कल्याण, भगवन्नामका मूल्य, वैराग्य और उपरामता, ईश्वर-महिमा, ईश्वरमें विश्वास तथा अमूल्य-शिक्षा आदि इसके अनेक उल्लेखनीय विषय हैं। साधनोपयोगी इस उत्तम लेख-संग्रहके अनुशीलनद्वारा कल्याणकामी सभी भाई-बहिनोंको अधिकाधिक लाभ उठाना चाहिये—यह हमारी विशेषरूपसे विनीत प्रार्थना है।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

परमानन्दकी खेती

कैसे [illegible]

अ[illegible]थ [illegible]दर कैसे आये ?' स्वागत करनेके बाद पंजाबमें रहनेवाले शुभाशु[illegible]ने पंजाब आनेका कोई कारण विशेष अवश्य होगा, [illegible] होनेसे [illegible]

'मेरे यहाँ अकाल पड़ा हुआ है। लोग दाने-दानेके लिये तरस रहे हैं और कितने ही क्षुधासे तड़प-तड़पकर प्राण छोड़ रहे हैं। व्याकुल होकर मैं परिवार-सहित आपके पास आ गया।' राजपूतानाके वैश्यने अपने मित्रसे सच्ची बात बता दी। अपने मित्रके पास अन्नका ढेर देखकर वह मन-ही-मन प्रसन्न भी हो रहा था।

'आप यहाँ आ गये, बड़ा अच्छा किया। आपहीका घर है, आनन्दपूर्वक रहिये।' वैश्यके मित्रने बड़े प्रेमसे उत्तरमें कहा।

'आपके यहाँ तो अन्नराशिके ढेर-के-ढेर लगे हैं, पर हमारे देशमें तो अन्न किंसी भाग्यशालीको ही मिलता है; वहाँ तो एक-एक दानेके लिये चील्ह-कौओंकी तरह छीना-झपटी हो रही है। आपके यहाँ सहस्रों मन एकत्र गल्लेको देखकर मेरे जी-में-जी आ गया।' वैश्यने स्थिति स्पष्ट की।

'यहाँ तो भगवत्कृपासे अन्नका अभाव नहीं है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात भी नहीं है, यहाँ तो कोई भी आवे, उसके लिये अन्नकी कमी नहीं है। आप तो हमारे मित्र हैं, यहाँ तो सब कुछ आपहीका है। यहाँ आकर आपने बड़ा अच्छा किया।' मित्र बोला। वह चतुर और अनुभवी किसान था।

'आपकी सभी वस्तुएँ हमारी हैं, इसमें तो सन्देह नहीं है, पर मैं जानना चाहता

हूँ कि इतनी अन्नराशि आपके पास आयी कहाँसे ?’ वैश्यने चकित होकर पूछा।

‘हमारे यहाँ बराबर खेती होती रहती है। उसीका यह प्रताप है।’ किसान मित्रने वैश्य-बन्धुका समाधान करना चाहा। ‘आप भी खेती करने लगें तो आपके पास भी अन्नके ढेर लग जायँगे।’

‘बड़ी सुन्दर बात है, कृषिके कार्यमें मैं भी जुट जा[illegible] अनुभव मुझे नहीं है। मेरे पास एक सहस्र रुपये हैं। इतने[illegible] सकती है क्या ?’ वैश्यने पूछा।

‘एक हजारकी पूँजी कम नहीं है। इतने रुपयेसे १०,००० [illegible] सुन्दरतासे आरम्भ कर सकते हैं। मेरा पूरा सहयोग रहेगा ही।’ किसानने सहानुभूतिपूर्ण शब्दोंमें अपने वैश्य मित्रसे कहा।

‘मुझे तो इसका कोई ज्ञान नहीं है। आप जैसा उचित समझें, करें।’ अपनी समस्त पूँजी किसानके हाथमें समर्पित करते हुए वैश्यने जवाब दिया।

× × × ×

‘देखिये, ये सब गेहूँ तो मिट्टीमें मिल गये। गेहूँका एक-एक दाना फूटकर नष्ट हो गया’—अत्यन्त निराश होकर वैश्यने कहा। उसने अपने पंजाबी किसान मित्रके किसी काममें बाधा नहीं दी थी। किसानने मित्रकी पूँजीसे बीजादिका प्रबन्ध करवाकर हल चलवा दिया था। बीज बो दिये गये थे पर, अनुभवहीन वैश्य यह सब देखकर चिन्तित हो रहा था। दो-तीन दिन भी नहीं बीतने पाये कि वह खेतमें जाकर खोदकर गेहूँके दाने देखने लगा। उसे बहुत-से बीज अङ्कुरित दीखे, इसपर उसने समझा कि मेरे सारे रुपये मिट्टीमें मिल गये। अत्यन्त दुःखी होकर उसने अपने मित्रसे उपर्युक्त बात कही।

‘आपके खेतमें अङ्कुर निकलने शुरू हो गये हैं। आप कोई चिन्ता न करें। बीजके लक्षण अच्छे हैं। आपको पता नहीं है।’ किसान मित्रने वैश्यको

****

आश्वासन दिया।

'मुझे तो धन और श्रमका व्यय करनेपर भी कोई लाभ होता नहीं दीखता। मैं तो बहुत चिन्तित हो गया हूँ।' वैश्यने मनकी व्यथा-कथा स्पष्टतः व्यक्त कर दी।

'प्रारम्भमें ऐसा ही होता है। आप निश्चिन्त रहें। आपकी खेती बड़ी सुन्दर कैसे [illegible] है।' किसान मित्रने बड़े प्रेमसे उत्तर दिया।

अ[illegible]थ [illegible] म था। इसके अतिरिक्त उसका वश ही क्या था?

शुभाशु[illegible] × × ×

[illegible] होनेसे [illegible]त्र घास-ही-घास दीख रही है। मुझे तो बड़ी हानि हुइ। [illegible] रुपया व्यर्थ गया।' वैश्यने थोड़े ही दिनोंमें फिर किसानसे कहा। एक-एक बित्तेके गेहूँके पौधोंको उसने घास समझ लिया था।

घबराया हुआ किसान स्वयं खेतपर गया, पर वहाँ खेती देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई।

'अरे! आपका खेत तो आस-पासके सभी खेतोंसे बढ़कर है' किसानने हतोत्साह मित्रका भ्रम निवारण किया, 'आप समझ लें कि अब गेहूँका विशाल ढेर आपके पास एकत्र होनेहीवाला है। पर इस बातका ध्यान अवश्य रखें कि ये पौधे सूखने न पावें। इन सुकुमार पौधोंका जीवन पानी है। इसकी व्यवस्था आप शीघ्र कर लें। इनकी सिंचाईके लिये आप शीघ्र ही एक कुँआ खुदा लें। साथ ही खेतको चारों ओर काँटोंकी बाड़ लगाकर रूँध दें, नहीं तो पशु आकर इसे चर जायँगे। खेतकी रखवाली आपको सावधानीसे करनी होगी।'

'आपकी प्रत्येक आज्ञाका मैं शब्दशः पालन करूँगा।' वैश्यने कहा। और वैसा ही किया। कुँआ खुदवाकर खूब सिंचाई की। भगवत्कृपासे बीच-बीचमें बादल-दलने भी जल-वर्षण किया। पौधे बढ़ने लगे।

× × × ×

'पौधोंके बीच-बीचमें जो घासें उग आयी हैं, उन एक-एक घासोंका

निरान कर डालिये। ये गेहूँकी वृद्धिके बाधक हैं'—एक दिन खेतपर आकर किसानने वैश्यको प्रेमभरे शब्दोंमें आदेश दिया।

'एक घास भी खेतमें नहीं रह पायेगी।' वैश्यने तुरंत उत्साहपूर्ण शब्दोंमें उत्तर दिया।

× × × ×

'गेहूँके दाने तो हो गये, पर ये तो सब-के-स[illegible] कच्चे ही [illegible] हैं'—माथेका पसीना पोंछते हुए वैश्यने किसान बन्धुसे क[illegible] दौड़ता आया था और जोरोंसे हाँफ रहा था। उसने अप[illegible] आदेशानुसार अपने खेतमें घासका कोई चिह्न भी [illegible] था। उसका परिश्रम अतुलनीय था। गेहूँमें फल भी लगे थे, पर इतने दिनोंके बाद उसने देखा तो सब-के-सब फल कच्चे ही थे। खेतीके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण वह गरीब घबरा गया था। उसने समझा रुपयेके साथ-साथ मेरी एँड़ी-चोटीका पसीना भी व्यर्थ सिद्ध हो रहा है। उसने दो-तीन फलियाँ भी किसानके सामने रख दीं, जिन्हें वह साथ ही लेता आया था।

'आपके गेहूँके दाने तो बड़े पुष्ट हैं। ये अब जल्दी ही पक जायँगे। अब इसमें विलम्ब नहीं होगा। आप घबरायें नहीं। किसी प्रकारका विचार भी न करें। आपकें घरमें गेहूँ और भूसेके पहाड़ लग जायँगे।' प्रसन्नताभरे शब्दोंमें किसानने वैश्यसे कहा। 'पर ऐसे समय पक्षी आ-आकर काकली—मीठी-मीठी बोली सुनाते हैं और सब दाने खा जाया करते हैं, अतः खेतीकी खूब रक्षा करनी होगी। पक्षियोंसे रक्षा किये बिना पक्षी सारे खेतका नाश कर डालेंगे।'

× × × ×

'मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मेरे आनन्दकी सीमा नहीं है। मेरे पास गेहूँका विशाल ढेर लग गया है'—वैश्यने आनन्दभरे शब्दोंमें किसान मित्रके प्रति आभार प्रदर्शित किया।

'यह सब भगवान्‌की कृपा और आपके श्रमका फल है। आप पक्षियोंके कलरवपर ध्यान न देकर उन्हें उड़ानेमें ही लगे रहते थे। आपने बड़ी तत्परतासे कृषि की थी।' किसानने वैश्यबन्धुको ही यश दिया।

वैश्य नतमस्तक हो गया। उसकी आकृतिपर आनन्द हँस रहा था।

× × × ×

कैसे [illegible]ह कहानी एक दृष्टान्तरूपसे कही गयी है। इसे परमार्थ विषयमें इस अ[illegible]थ [illegible] चाहिये कि सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले शुभाशु[illegible]कालपीड़ित वैश्य समझना चाहिये। साधककी सांसारिक [illegible] होनेसे [illegible] सच्चे सुखकी अभिलाषाको अकालपीड़ित वैश्यके भूखकी [illegible] कारण अन्नकी आवश्यकता समझनी चाहिये। महात्माको पंजाबमें रहनेवाला वैश्यका किसान मित्र समझना चाहिये। वैश्यका जो राजपूतानासे अपने मित्रके पास पंजाब जाना है, यही साधकका अपने घरसे महात्माके आश्रममें महात्माके पास जाना है। मित्रके पास जाकर वैश्यका जो अपने कष्टकी बात कहना है, यही जिज्ञासु साधकका महात्माको अपना दुःख निवेदन करना है। वैश्य भाईका जो अपनी सम्पूर्ण पूँजी मित्रको सौंप देना है, यही साधकका अपने मानव-जीवनका अवशेष समय महात्माके चरणोंमें समर्पित करना है। मित्रके कहे अनुसार जो धनका खर्च करना है, यही महात्माके आज्ञानुसार समयका सदुपयोग करना है। किसान मित्रका जो जमीन और बीजका प्रबन्ध करवा देना है, इसको महात्माका समयको सदुपयोगमें लानेकी शिक्षा देना समझना चाहिये। खेतीके लिये जो अपने सुखका त्याग करना है, इसको परम आनन्दकी प्राप्तिके लिये वर्तमान सांसारिक सुखका त्याग करना समझना चाहिये। बीजका जो खेतमें बो देना है इसको महात्माके द्वारा प्राप्त साधनके बीजमन्त्रका हृदयमें धारण करना समझना चाहिये। खेती करनेसे खेतमें बीजोंका अङ्कुर फूटनेपर बेसमझीके कारण दुःख और निराशाका अनुभव होनेको साधनकालमें होनेवाली निराशा और तज्जनित क्लेश समझना

चाहिये। वैश्यका भ्रमसे गेहूँके छोटे पौधोंको जो घास समझना है, यही साधनकालमें साधनकी उन्नति होनेपर भी साधनमें परिश्रम अधिक होनेके कारण उसे भ्रमसे साधन न समझकर व्यर्थ समझना है। मन और इन्द्रियोंके संयमको बाड़ समझनी चाहिये। अध्यात्मविषयको सांसारिक स्वार्थी मनुष्योंके सम्पर्कमें खर्च नहीं करना ही पशुओंसे खेतको बचाना है। भगवानके गुण-प्रभाव-सहित रूपकी स्मृति और सत्सङ्ग-स्वाध्यायहानी [illegible] खेतको खोदकर सींचते रहना समझना चाहिये। अपने-आप स[illegible] च[illegible] ध्यानका अभ्यास चलनेको ईश्वर-कृपासे समयपर स्वतः वा[illegible] चाहिये। दुर्गुणों और दुराचारोंको अपने हृदयसे [illegible] अतिरिक्त अन्य घास-फूसका निरान करना है। परमात्माके ध्यानका जमावटको यहाँ गेहूँका फलना तथा स्वार्थी मनुष्योंके द्वारा की जानेवाली साधककी स्तुति-कीर्तिको यहाँ गेहूँको खानेके लिये आनेवाले पक्षियोंकी काकली समझना चाहिये। साधन परिपक्व होनेके लिये स्तुति-कीर्ति तथा स्तुति-कीर्ति करनेवालोंकी अवहेलना करनेको यहाँ खेतीकी रक्षाके लिये पक्षियोंको हटा देना समझना चाहिये एवं सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जानेको गेहूँके पक जानेपर उसका ढेर लग जाना समझना चाहिये।

═══ ★ ═══

निष्कामभावकी महत्ता

कैसे [illegible]स प्रकार श्रीभगवान्‌का नित्य-निरन्तर चिन्तन संसार-सागरसे शीघ्र अ[illegible]थ [illegible]ला सुगम उपाय बतलाया गया है (गीता १२ । ७;८ । १४), शुभाशु[illegible] किया भी शीघ्र उद्धार करनेवाली तथा सुगम उपाय है [illegible] होनेसे [illegible]ष्कामभावके साथ यदि भगवान्‌का स्मरण होता रहे तब तो फिर बात ही क्या है। वह तो सोनेमें सुगन्धकी तरह अत्यन्त महत्त्वकी चीज हो जाती है। इससे और भी शीघ्र कल्याण हो सकता है। किंतु भगवान्‌की स्मृतिके बिना भी यदि कोई मनुष्य फलासक्तिको त्याग कर निःस्वार्थभावसे चेष्टा करे तो उससे भी उसका कल्याण हो सकता है, बल्कि इसे फलत्यागरहित ध्यानसे भी श्रेष्ठ बतलाया गया है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

(१२ । १२)

'(मर्मको न जानकर किये हुए) अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

अतः यह कोशिश करनी चाहिये कि भगवान्‌को याद रखते हुए ही सारी चेष्टा निष्कामभावपूर्वक हो। यदि काम करते समय भगवान्‌की स्मृति न हो सके तो केवल निष्कामभावसे ही मनुष्यका कल्याण हो सकता है। इसलिये निष्कामभावको हृदयमें दृढ़तासे धारण करना चाहिये; क्योंकि निष्कामभावसे

की हुई थोड़ी-सी भी चेष्टा संसार-सागरसे उद्धार कर देती है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

> नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
> स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
>
> (२।४०)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और ... फलरूप दोष भी नहीं है। बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा ... जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।'

फिर जो नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे क्रिया करे ... उसके लिये तो कहना ही क्या है!

इसलिये मनुष्यको तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना, आसक्ति, ममता और अहंता आदिका सर्वथा त्याग करके जिससे लोगोंका परम हित हो, उसी काममें अपना तन, मन, धन लगा देना चाहिये।

स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, मान-बड़ाई आदि अपने पास रहते हुए भी उनकी वृद्धिकी इच्छा करनेको 'तृष्णा' कहते हैं। जैसे किसीके पास एक लाख रुपये हैं तो वह पाँच लाख होनेकी इच्छा करता है और पाँच लाख हो जानेपर उसे दस लाखकी इच्छा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर इच्छाकी वृद्धिका नाम 'तृष्णा' है। इसी तरह मान, बड़ाई, पुत्र आदि अन्य चीजोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। यह तृष्णा बहुत ही खराब है, मनुष्यका पतन करनेवाली है।

स्त्री, पुत्र, ऐश्वर्यकी कमीकी पूर्तिके लिये जो कामना होती है, उसका नाम 'इच्छा' है। जैसे किसीके पास अन्य सब चीजें तो हैं पर पुत्र नहीं है तो उसके लिये जो मनमें कामना होती है, उसे 'इच्छा' कहते हैं।

पदार्थोंकी कमीकी पूर्तिकी इच्छा तो नहीं होती, पर जो बहुत आवश्यकतावाली वस्तुके लिये कामना होती है, जिसके बिना निर्वाह होना कठिन है, उसका नाम 'स्पृहा' है। जैसे कोई मनुष्य भूखसे पीड़ित है अथवा

शीतसे कष्ट पा रहा है तो उसे जो अन्न अथवा वस्त्रकी विशेष आवश्यकता है और उसकी पूर्तिकी जो इच्छा है, उसको 'स्पृहा' कहते हैं।

जिसके मनमें ये तृष्णा, इच्छा, स्पृहा तो नहीं हैं, पर यह बात मनमें रहती है कि और तो किसी चीजकी आवश्यकता नहीं है, पर जो वस्तुएँ प्राप्त हैं, वे बनी रहें और मेरा शरीर बना रहे, ऐसी इच्छाका नाम 'वासना' है।

कैसे [illegible] उपर्युक्त कामनाओंमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवाली कामना सूक्ष्म और [illegible] तथा सूक्ष्म और हल्कीका नाश होनेपर स्थूल और भारीका नाश [illegible] शुभाशु[illegible] है। जिनमें उपर्युक्त तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना आदि [illegible] होनेसे [illegible]ना नहीं, वही निष्कामी है।

इन [illegible] कामनाओंकी जड़ आसक्ति है। शरीर, विषयभोग, स्त्री, पुत्र, धन, मकान, ऐश्वर्य, आराम, मान, कीर्ति आदिमें जो प्रीति—लगाव है, उसका नाम 'आसक्ति' है। शरीर और संसारके पदार्थोंमें 'यह मेरा है' ऐसा भाव होना ही 'ममता' है। इस आसक्ति और ममताका जिसमें अभाव है, वही परम विरक्त वैराग्यवान् पुरुष है। ममता और आसक्तिका मूल कारण है—अहंता। स्थूल, सूक्ष्म या कारण—किसी भी देहमें, जो कि अनात्मवस्तु है, इस प्रकार आत्माभिमान करना कि देह मैं हूँ—यह 'अहंता' है। इसके नाशसे सारे दोषोंका नाश हो जाता है अर्थात् समस्त दोषोंकी मूलभूत अहंताका नाश होनेपर आसक्ति, ममता आदि सभीका विनाश हो जाता है। अहंकारमूलक ये जितने भी दोष हैं, उन सबका मूल कारण है—अज्ञान (अविद्या)। वह अज्ञान हमलोगोंकी प्रत्येक क्रिया और सम्पूर्ण पदार्थोंमें पद-पदपर इतना व्यापक हो गया है कि हम उससे भूले हुए संसार-चक्रमें ही भटक रहे हैं। उस अज्ञानका नाश परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे होता है। परमात्माका वह यथार्थ ज्ञान होता है अन्तःकरणके शुद्ध होनेसे। हमलोगोंके अन्तःकरण राग-द्वेष आदि दुर्गुण और झूठ, कपट, चोरी आदि दुराचाररूप मलसे मलिन हो रहे हैं। इस मलको दूर करनेका उपाय है—ईश्वरकी उपासना

****

या निष्कामकर्म।

हमलोगोंमें स्वार्थकी अधिकता होनेके कारण प्रत्येक कार्य करते समय पद-पदपर स्वार्थका भाव जाग्रत् हो जाता है। पर कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको ईश्वर, देवता, ऋषि, महात्मा, मनुष्य और किसी भी जङ्गम या स्थावर प्राणीसे अथवा जड पदार्थोंसे अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी इच्छा कभी नहीं रखनी चाहिये। जब-जब चित्तमें स्वार्थकी भावना आवे [illegible] उसको हटाकर उसके बदले हृदयमें इस भावकी जागृति पैदा [illegible] सबका हित किस प्रकार हो। जैसे कोई अर्थका दास [illegible] खोलनेसे लेकर दूकान बंद करनेके समयतक प्र[illegible] इच्छा और चेष्टा करता रहता है कि रुपया कैसे मिले, धनसंग्रह कैसे हो, इसी प्रकार कल्याणकामी पुरुषको प्रत्येक क्रियामें यह भावना रखनी चाहिये कि संसारका हित कैसे हो। जो मनुष्य अपने कल्याणकी भी इच्छा न रखकर अपना कर्तव्य समझकर लोकहितके लिये अपना तन, मन, धन लगा देता है, वही असली स्वार्थ-त्यागी निष्कामी श्रेष्ठ पुरुष है।

किंतु दुःखकी बात है कि स्वार्थके कारण हमलोग अज्ञानसे इतने अंधे हो रहे हैं कि निष्कामभावसे दूसरोंका हित करना तो दूर रहा, बल्कि दूसरोंसे अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और करते हैं। जितनी स्वार्थपरता इस समय देखनेमें आ रही है, उतनी तो इससे कुछ काल पूर्व भी नहीं थी। फिर द्वापर, त्रेता और सत्ययुगकी तो बात ही क्या! इस समय तो स्वार्थ-सिद्धिके लिये मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, विश्वासघात आदि करनेसे भी बाज नहीं आते तथा अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये ईश्वर और धर्मको भी छोड़ बैठते हैं। भला, ऐसी परिस्थितिमें मनुष्यका कल्याण कैसे हो सकता है!

जो दूसरेका हक (स्वत्व) है, उसमें स्वाभाविक ही ग्लानि होनी चाहिये। पर हमारी तो ग्लानि न होकर हर प्रकारसे उसे हड़पनेकी ही चेष्टा रहती है। यह बहुत बुरी आदत है। दूसरेके हकको सदा त्याज्यबुद्धिसे देखना चाहिये।

उसे ग्रहण करना तो दूर रहा, पर-स्त्रीके स्पर्शकी तरह उसके स्पर्शको भी पाप समझना चाहिये। जो मनुष्य पर-स्त्री और पर-धनका अपहरण करते हैं या उनकी इच्छा करते हैं तथा पर-अपवाद करते हैं, उनका कल्याण कहाँ, उनके लिये तो नरकमें भी ठौर नहीं है।

आजकल व्यापारमें भी इतनी धोखेबाजी बढ़ गयी है कि हमलोग कैसे [illegible] धन हड़पनेके लिये हर समय तैयार रहते हैं। इसको हम चोरी कहें [illegible] अ[illegible]थ कोई आदमी जब अपना माल बेचते हैं तो वजन आदिमें कम देना [illegible] शुभाशु[illegible]पारी, रूई, ऊन आदि बिक्रीकी चीजोंको जलसे भिगोकर [illegible] होनेसे [illegible] तथा बेचते समय हरेक वस्तुको वजन, नाप और संख्यामे हर प्रकारसे कम देनेकी ही चेष्टा करते हैं; पर माल खरीदते समय स्वयं वजन, नाप और संख्यामें अधिक-से-अधिक लेनेकी चेष्टा करते हैं एवं बेचते समय नमूना दूसरा ही दिखलाते हैं चीज दूसरी ही देते हैं। एक चीजमें दूसरी चीज मिला देते हैं—जैसे घीमें बेजिटेबल, नारियलके तैलमें किरासिन, दालमें मिट्टी इत्यादि। इस प्रकार हर तरीकेसे धोखा देकर स्वार्थ-सिद्धि करते हुए अपना परलोक बिगाड़ते हैं। कोई-कोई तो व्यापारी, सरकार, रेलवे या मिलिटरीके किसी भी मालको उठानेका अवसर पाते हैं तो धोखा देनेकी चेष्टा करते हैं। उनसे माल खरीदते तो हैं थोड़ा और उनके कर्मचारियोंसे मिलकर जितना माल खरीद करते हैं उससे बहुत अधिक माल उठा लेते हैं। यह सरासर चोरी है। यह बहुत अन्यायका काम है। इस अनर्थसे सर्वथा बचना चाहिये।

अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको अपनी समस्त क्रिया निष्काम-भावसे ही करनी चाहिये। ईश्वर-देवता, ऋषि-मुनि, साधु-महात्माओंका पूजा-सत्कार तथा यज्ञ-दान, जप-तप, तीर्थ-व्रत, अनुष्ठान एवं पूजनीय पुरुष और दुःखी, अनाथ, आतुर प्राणियोंकी सेवा आदि कोई भी धार्मिक कार्य हो, उसे कर्तव्य समझकर ममता, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर निष्कामभावसे

करना चाहिये, किसी प्रकारकी कामनाकी सिद्धिके लिये या सङ्कट-निवारणके लिये नहीं। यदि कहीं लोक-मर्यादामें बाधा आती हो तो राग-द्वेषसे रहित होकर लोक-संग्रहके लिये काम्य-कर्म कर लें तो वह सकाम नहीं है।

उपर्युक्त धार्मिक कार्योंको करनेके पूर्व ऐसी इच्छा करना कि अमुक कामनाकी सिद्धि होनेपर अमुक अनुष्ठानादि कार्य करेंगे तो उसकी अपेक्षा वह अच्छा है जो उन धार्मिक कार्योंके करनेके समय ही इच्छित कामना [illegible] रखकर करता है और उससे वह श्रेष्ठ है जो धार्मिक कार्योंको सम[illegible] बाद उक्त ईश्वर, देवता, महात्मा आदिसे प्रार्थना करता है [illegible] सिद्ध करें तथा उसकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है कि जो ५०,००० [illegible] उद्देश्य लेकर तो नहीं करता पर कोई आपत्ति आनेपर उसके निवारणके लिये उससे कामना कर लेता है। इसकी अपेक्षा भी वह श्रेष्ठ है जो आत्माके कल्याणके लिये धार्मिक अनुष्ठानादि करता है और वह तो सबसे श्रेष्ठ है जो केवल निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर करता है तथा बिना माँगी भी वे कोई पदार्थ दें तो लेता नहीं। हाँ, यदि केवल किसीकी प्रसन्नताके लिये राग-द्वेषसे शून्य होकर लेना पड़े तो उसमें कोई दोष नहीं है।

इसी प्रकार जड पदार्थोंसे भी कभी कोई स्वार्थसिद्धिकी कामना नहीं करनी चाहिये। जैसे बीमारीकी निवृत्तिके लिये शास्त्रविहित औषध, क्षुधाकी निवृत्तिके लिये अन्न, प्यासकी निवृत्तिके लिये जल और शीतकी निवृत्तिके लिये वस्त्र आदिका सेवन करनेमें अनुकूलता-प्रतिकूलता होनी स्वाभाविक है, पर उनमें भी राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे शून्य होकर निष्कामभावसे ही उनका सेवन करना चाहिये। यदि कहीं अनुकूलतामें प्रीति और हर्ष तथा प्रतिकूलतामें द्वेष और शोक उत्पन्न हों तो समझना चाहिये कि उसके अंदर छिपी हुई कामना है।

किसी प्रकार भी किसीकी कभी सेवा स्वीकार नहीं करनी चाहिये; अपितु अपनेसे बने जहाँतक तन, मन, धन आदि पदार्थोंसे दूसरोंकी सेवा करना

****

उचित है; किंतु किसीसे सेवा करानी तो कभी नहीं चाहिये। यदि रोग-ग्रस्तावस्था आदि आपत्तिकालके समय स्त्री, पुत्र, नौकर, मित्र, बन्धु-बान्धव आदिसे सेवा न करानेपर उनको दुःख हो तो ऐसी हालतमें उनके सन्तोषके लिये कम-से-कम सेवा करा लेना भी कोई सकाम नहीं है।

लोग दहेज लेनेके समय अधिक-से-अधिक लेनेकी चेष्टा करते हैं और कैसे [illegible] देनेवाले इच्छानुसार दहेज नहीं देते तो उनका सम्बन्ध-त्याग कर देते हैं। अ[illegible]थ से देखा जाय तो दहेज एक प्रतिग्रह ही है। उसे प्रतिग्रह समझकर शुभाशु[illegible]क उसका त्याग करना चाहिये। दहेज आदि देनेकी इच्छा तो और [illegible] होनेसे [illegible]नेकी नहीं। जहाँ किसीसे न लेनेमें वह नाराज हो तो उसके सन्तोषके लिये कम-से-कम स्वीकार करनेमें कोई सकामता नहीं है।

इसी प्रकार किसी भी संस्था या व्यक्तिसे कभी किसी भी प्रकार कुछ भी नहीं लेना चाहिये। यदि लेना ही पड़े तो लेनेसे पूर्व, लेते समय या लेनेके बाद उसके बदलेमें जितनी चीज उससे ली हो, उससे अधिक मूल्यकी चीज किसी भी प्रकार देनेकी चेष्टा रखनी चाहिये।

पूर्वके जमानेमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीकी तो बात ही क्या, गृहस्थीको भी किसी चीजके लिये किसीसे याचना नहीं करनी पड़ती थी; बिना ही माँगे खर्च, विवाह आदिके अवसरोंपर मित्र, बन्धु-बान्धव, सगे-सम्बन्धी लोग आवश्यकतानुसार चीजें पहुँचा दिया करते थे और इसमें वे अपना अहोभाग्य समझते थे। यदि उनके पास कोई चीज नहीं होती तो वे दूसरे जान-पहचानवालोंसे लेकर भेज देते थे। इससे किसीको भी अपने लिये याचना नहीं करनी पड़ती थी। इसमें स्वार्थका त्याग ही प्रधान कारण है।

इसलिये हमलोग भी सबके साथ निःस्वार्थभावसे उदारता-पूर्वक त्यागका व्यवहार करें तो हमारे लिये आज भी सत्ययुग मौजूद है अर्थात् पूर्वकालकी भाँति हमारा भी काम बिना याचनाके चल सकता है। अतः हमको किसी चीजकी याचना नहीं करनी चाहिये।

और बिना याचना किये ही कोई दे जाय—ऐसी इच्छा या आशा भी नहीं रखनी चाहिये। तथा ऐसी इच्छा न रहते हुए भी यदि कोई दे जाय तो उसको रख लेनेकी इच्छा भी कामना ही है। इस प्रकारकी कामना न रहते हुए भी कोई आग्रहपूर्वक दे जाय तो उसे स्वीकार करते समय जो चित्तमें स्वार्थको लेकर प्रसन्नता होती है, वह भी छिपी हुई कामना ही है। इसलिये भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी सिद्धिके [illegible] दूसरेकी सेवा और स्वत्वको स्वीकार नहीं करना चाहिये, अपने निश्[illegible] रहना चाहिये। धैर्यका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, चाहे [illegible] चले जायँ, फिर इज्जत और शारीरिक कष्टकी तो [illegible] हमलोगोंमें इतनी कमजोरी आ गयी कि थोड़ा-सा भी कष्ट प्राप्त होनेपर अपने निश्चयसे विचलित हो जाते हैं। कामनाकी तो बात ही क्या, साधारण-से कार्यके लिये ही याचनातक कर बैठते हैं। ऐसी हालतमें निष्काम कर्मकी सिद्धि कैसे सम्भव है!

याद रखना चाहिये कि ब्रह्मचारी और संन्यासी भिक्षाके लिये भोजनकी याचना करें तो वह याचना उनके लिये सकाम नहीं है। ब्रह्मचारी तो गुरुके लिये ही भिक्षा माँगता है और गुरु उस लायी हुई भिक्षामेंसे जो कुछ उसे दे देता है, उसे ही वह प्रसाद समझकर पा लेता है तथा संन्यासी अपने और गुरुके लिये अथवा गुरु न हों तो केवल अपने लिये भी भिक्षा माँग सकता है; क्योंकि भिक्षा माँगना उनका धर्म बतलाया गया है। और यदि कोई बिना माँगे भिक्षा दे देता है तो स्वीकार करना उनके लिये अमृतके तुल्य है। इस प्रकार माँगकर लायी हुई और बिना माँगे स्वतः प्राप्त हुई भिक्षा भी राग-द्वेषसे रहित होकर ही लेनी चाहिये।

जहाँ विशेष आदर-सत्कार, पूजाभावसे भिक्षा मिलती हो, वहाँ भिक्षा नहीं लेनी चाहिये; क्योंकि वहाँ भिक्षा लेनेसे अभिमानके बढ़नेकी गुंजाइश है तथा जहाँ अनादरसे भिक्षा दी जाती हो, वहाँ भी नहीं लेनी चाहिये; क्योंकि

वहाँ दाता क्लेशपूर्वक देता है। अतः वह ग्राह्य नहीं है। इसलिये मान-अपमान और निन्दा-स्तुतिसे तथा भोजनमें यह बुरा है, यह भला है—इस प्रकार अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेषसे शून्य होकर प्राप्त की हुई भिक्षा अमृतके समान है। इसमें भी जो पदार्थ शास्त्रके विपरीत हों, उनका त्याग कर देना चाहिये। जैसे कोई मदिरा, मांस, अंडे, लहसुन, प्याज आदि भिक्षामें दे तो कैसे [illegible] शास्त्रनिषिद्ध समझकर उनका त्याग करना ही उचित है। एवं कोई घी, [illegible] मिष्टान्न देता है तो शास्त्र और स्वास्थ्यके अनुकूल होते हुए भी शुभाशु[illegible] मनके विपरीत लगनेवाली इन चीजोंका त्याग करना भी कोई [illegible] होनेसे [illegible] और संन्यासीको विशेष आवश्यकता पड़नेपर कौपीन, कमण्डलु आर शीत-निवारणार्थ वस्त्रकी याचना करनेमें भी कोई दोष नहीं है।

वानप्रस्थीके लिये तप, अनुष्ठान आदि, ब्राह्मणके लिये यज्ञ कराना, विद्या पढ़ाना आदि; क्षत्रियके लिये प्रजाकी रक्षा और न्यायसे प्राप्त युद्ध * आदि; वैश्यके लिये कृषि, वाणिज्य आदि तथा स्त्रियों और शूद्रोंके लिये सेवा-शुश्रूषा आदि सभी जो शास्त्रविहित कर्म हैं, उनके सम्पन्न होने या न होनेमें तथा उनके फलमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित होकर उनका निष्काम-भावसे आचरण करना चाहिये। यदि कहीं उनकी सिद्धिसे प्रीति या हर्ष और असिद्धिसे द्वेष या शोक होते हैं तो समझना चाहिये कि उसके अंदर छिपी हुई कामना विद्यमान है।

इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण कामना, आसक्ति, ममता और अहंकारको

---

* श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

****

त्यागकर केवल लोकोपकारके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक शास्त्रविहित समस्त कर्मोंका कर्तव्य-बुद्धिसे आचरण करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे उसमें दुर्गुण-दुराचारोंका अत्यन्त अभाव होकर स्वाभाविक ही विवेक-वैराग्य, श्रद्धा-विश्वास, शम-दम आदि सद्गुणोंकी वृद्धि हो जाती है तथा उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें इतनी निर्भयता आ जाती है कि भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी वह किसी प्रकार कभी विचलित नहीं होता, अपितु धी[illegible] वीरता, गम्भीरताका असीम सागर बन जाता है एवं परम शान्ति [illegible] आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

——★——

सत्सङ्गके अमृत-कण

अ[illegible]थ [illegible]नकी और महापुरुषोंकी दया अपार है। वह माननेसे ही समझमें [illegible] शुभाशु[illegible] कोई जगह खाली नहीं है और महात्माओंका संसारमें अभाव [illegible] होनेसे [illegible] हमारे माननेकी है, वे तो प्राप्त ही हैं। न माननेसे वे प्राप्त भी अप्राप्त हैं। घरमें पारस पड़ा है, परन्तु न माननेसे वह भी अप्राप्त ही है। भगवान्‌की दया और प्रेम अपार हैं। उन्हें न माननेसे ही वे अप्राप्त हो रहे हैं, मान लिये जायँ तो प्राप्त ही हैं। किसी दयालु पुरुषसे कहा जाय कि आप हमारे ऊपर दया करें तो इसका मतलब यह होगा कि वह दयालु नहीं है। इसपर वह दयालु पुरुष समझता है कि यह बेचारा भोला है, नहीं तो मुझसे यह कैसे कहता कि दया करो। भगवान् और महापुरुष दोनोंके लक्षणोंमें यह बात आती है कि वे सबके मित्र और सुहृद् होते हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

(५।२९)

'मुझको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है।'

× × × ×

वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सब जगह प्रत्यक्ष मौजूद है, किन्तु इस प्रकार प्रत्यक्ष होते हुए भी हमारे न माननेके कारण वह अप्राप्त है।

सच्चिदानन्दघन परमात्माका कहीं कभी अभाव नहीं है। इस प्रकार न मानना ही अज्ञान है और इस अज्ञानको दूर करनेके लिये प्रयत्न करना ही परम पुरुषार्थ है। हमें इस अज्ञानको ही दूर करना है। इसके सिवा और किसी रूपमें हमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं करनी है। परमात्मा तो नित्य प्राप्त ही है। उस प्राप्त हुए परमात्माकी ही प्राप्ति करनी है, अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं करनी है, वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सबको प्राप्त है। यह दृढ़ निश्चय [illegible] ही परमात्माको प्राप्त करना है। इस प्रकारका निश्चय हो जानेपर [illegible] और परम पदकी प्राप्ति सदाके लिये प्रत्यक्ष हो जाती है। यदि [illegible] मान्यतामें कमी है।

इस प्रकारके तत्त्व-रहस्यको बतलानेवाले महात्मा भी संसारमें हैं; किन्तु हैं लाखों-करोड़ोंमें कोई एक। जो हैं, उनका प्राप्त होना दुर्लभ है और प्राप्त होनेपर भी उनका पहचानना कठिन है। उनको जान लेनेपर तो परमानन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिये कि उसके माननेमें ही कमी है।

═══ ★ ═══

साधनसम्बन्धी प्रश्नोत्तर

[illegible] योंने साधनके सम्बन्धमें कई प्रश्न किये हैं, उनको जो उत्तर दिये [illegible] होनेसे [illegible] पयोगी होनेसे प्रश्नोत्तरके रूपमें यहाँ दिये जा रहे हैं—

प्रश्न—हमलोग शयनके समय, मनमें जो एक सांसारिक वातावरणका प्रवाह चल पड़ता है, उसे हटाकर भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाके सहित उनके स्वरूपका चिन्तन करनेका ध्येय बनाते हैं; किंतु प्रथम तो शयनके समय उसकी स्मृति ही नहीं होती और यदि कभी होती है तो वही पूर्वका प्रवाह बलात् चल पड़ता है, यह क्यों होता है और इसके सुधारका क्या उपाय है ?

उत्तर—यह संसारका चिन्तन करनेका जन्म-जन्मान्तरका अभ्यास है तथा सांसारिक पदार्थोंमें आसक्ति होनेके कारण उनमें प्रीति हो रही है। यही कारण है कि प्रयत्न करनेपर भी बलात् बार-बार संसारके चिन्तनका ही प्रवाह बन जाता है। जैसे सायंकालके समय मनुष्य बार-बार यह निश्चय कर लेता है कि सुबह चार बजे उठकर शौच-स्नान नित्यकर्म करना है; पर प्रथम तो चार बजे नींद नहीं टूटती और यदि टूट जाती है तो उठनेका मन नहीं करता, आलस्य और आसक्तिके कारण लेटनेमें ही मन रहता है; क्योंकि उसमें सुखबुद्धि है; किंतु शौच-स्नान, नित्यकर्म प्रातःकाल करनेकी सब प्रकारसे बहुत लाभकी चीज है तथा स्वास्थ्य और साधन दोनोंके लिये अत्यन्त लाभप्रद है, ऐसा विवेक और बुद्धिके द्वारा विचारपूर्वक दृढ़ निश्चय करके लोग जल्दी उठ जाते हैं; इसी प्रकार शयनके समयमें विचारद्वारा मनको

समझाया जाय और बुद्धिके निश्चयपर जोर डाला जाय कि यह संसारका चिन्तन हानिकर है और भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीलाका चिन्तन बहुत लाभदायक है तथा बार-बार प्रयत्न किया जाय तो यह शयन-समयका अभ्यास भी सुधर सकता है।

प्रश्न— प्रातः और सायंकाल सन्ध्या-गायत्री, पूजा-पाठ, जप-ध्यान और स्वाध्याय आदि नित्यकर्म करते समय आलस्य और चित्तकी चञ्चलताके [illegible] उस खास साधनके समय भी हम उच्चकोटिका साधन नहीं कर [illegible] उपर्युक्त साधनका सुधार किया जाय तो वह हजारों गुना अ[illegible] सकता है, ऐसा हम पढ़ते, सुनते और समझते हैं तथा [illegible] भी सुधार नहीं होता। इसमें क्या हेतु है और इसके सुधरनेका क्या उपाय है?

उत्तर—ईश्वरमें अनन्य श्रद्धा-प्रेमकी और तीव्र अभ्यासकी कमी तथा विषय-भोगोंकी आसक्ति ही उच्चकोटिका साधन न होनेमें प्रधान कारण है।

भगवन्नाम और गायत्रीजपके विषयमें शास्त्रोंमें ऐसा बतलाया है कि उच्चारण करके किये हुए जपकी अपेक्षा उपांशु दसगुना श्रेष्ठ है और उपांशुसे मानसिक दसगुना श्रेष्ठ है।* इस प्रकारका जप श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अर्थसहित निष्कामभावसे किया जाय तो वह अनन्तगुना श्रेष्ठ हो जाता है। इसी प्रकार सन्ध्या-वन्दन, पूजा-पाठ, स्वाध्याय आदि सारा नित्यकर्म उसके तत्त्व-रहस्यको समझते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अर्थसहित निष्कामभावसे किया जाय तो हमारा

---

* मनुजीने कहा है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(२।८५)

'दर्शपौर्णमासादि विधियज्ञोंसे साधारण जोर-जोरसे किया जानेवाला जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु (होठ और जिह्वाके हिलनेपर भी दूसरेको सुनायी न पड़े—इस प्रकार किया जानेवाला) जप सौगुना श्रेष्ठ है तथा मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

सभी नित्यकर्म अनन्तगुना हो सकता है। इसलिये इस विषयमें हमको दृढ़ विश्वास करके विवेक और विचारके द्वारा उसके तत्त्व-रहस्यको समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक वैराग्ययुक्त चित्तसे बड़े जोरके साथ निष्कामभावसे तीव्र अभ्यास करना चाहिये तथा साधन उच्चकोटिका बने, इसके लिये परमेश्वरसे स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये; क्योंकि साधारण प्रयत्नसे इसका सुधार होना कैसे [illegible] नहीं।

अ[illegible]थ[illegible]—कल्याणकामी पुरुष चलते, उठते-बैठते, खाते-पीते—सभी शुभाशु[illegible]—[illegible]वान्‌का स्मरण रखते हुए ही सब काम करना चाहता है तथा [illegible] होनेसे [illegible] पर ऐसा बनता नहीं, इसका क्या कारण है? तथा इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये?

उत्तर—परमेश्वरमें श्रद्धा-प्रेम और साधनके अभ्यासकी कमी ही इसका प्रधान कारण है। यदि ईश्वरमें श्रद्धा-प्रेम करके तीव्र अभ्यास किया जाय तो यह दोष सहज ही दूर हो सकता है। जैसे नटनीका रुपयोंमें प्रेम है, इसलिये वह बाँसपर चढ़कर एक बाँससे दूसरे बाँसपर जानेके लिये उनके बीचमें बँधे हुए रस्सेपर गाती-बजाती हुई चलती है, किंतु उसका निरन्तर अपने पैरोंमें ध्यान रहता है; क्योंकि यदि निरन्तर पैरोंमें ध्यान न रहे तो उसका रस्सेपरसे गिर पड़ना सम्भव है। इस प्रकार नटनीका जितना प्रेम रुपयोंमें है, उतना भी प्रेम हमारा भगवान्‌में हो तो ईश्वरका निरन्तर स्मरण रहते हुए कोई भी काम होनेमें बाधा नहीं आ सकती। अतः इससे यही सिद्ध होता है कि हमारे श्रद्धा-प्रेम और अभ्यासकी कमी है। नटनी भी अभ्यास करते-करते बहुत समयके बाद उपर्युक्त सफलता प्राप्त करती है, एक दिनमें नहीं। इसलिये जैसे नटनी निरन्तर अपने पैरोंमें ध्यान रखती है, वैसे ही हम निरन्तर परमेश्वरका स्मरण रखें और जैसे नटनी गाती-बजाती है, वैसे ही हम संसारका सब काम करें तो हम भी अपने कार्यमें सफल हो सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि यह काम यदि असम्भव होता तो भगवान् कभी

****

गीतामें यह नहीं कहते कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर।'

इससे यह सिद्ध होता है कि यह असम्भव नहीं है। अतः न[illegible]नीकी [illegible] हमलोगोंको भी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर अभ्यास करनेके लिये [illegible] चाहिये।

प्रश्न—हमलोग बहुत बार तो संसारका ऐसा [illegible] हैं कि जिसमें न तो स्वार्थकी सिद्धि है और न परमार्थकी ही। इस बातको समझते हुए और उस व्यर्थ चिन्तनके त्यागका प्रयत्न करनेपर भी उसे छोड़ नहीं सकते, इसका क्या कारण है और इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये?

उत्तर—अज्ञानके कारण संसारके पदार्थोंमें मनको सुख प्रतीत होता है तथा उनके चिन्तनकी अनादिकालसे आदत पड़ी हुई है, इसीसे उनमें आसक्ति हो गयी है और इसके विपरीत, ईश्वरमें श्रद्धा-प्रेमकी कमी है तथा उनके चिन्तनका जोरदार अभ्यास भी नहीं है; यही कारण है जो कि प्रयत्न करनेपर भी हमलोग इस कार्यमें सफल नहीं होते।

अतः संसारके पदार्थोंको क्षणभङ्गुर, नाशवान्, दुःखरूप और महान् हानिकर समझकर उनसे तीव्र वैराग्य करना चाहिये तथा परम शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमात्माके नित्य-निरन्तर स्मरणका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक दृढ़ अभ्यास करना चाहिये। एवं इस अभ्यासके सिद्ध होनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये, इस प्रकार करनेसे संसारके व्यर्थ चिन्तनकी आदत छूटकर हम कृतकार्य हो सकते हैं।

प्रश्न—हमलोग समझते हैं कि सेलटैक्स और इन्कमटैक्सकी चोरी करना, चोरबाजारी करना, घूस लेना तथा और भी अनेक तरहसे झूठ, कपट,

चोरी, बेईमानी करके धन पैदा करना इस लोक और परलोकमें सब प्रकारसे भयानक है, फिर भी ये हमसे छूटते नहीं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—धनमें और धनसे मिलनेवाले सुखमें आसक्ति है, इसी कारण ये दोष नहीं छूटते। इसके सिवा लोग इनको बुरा कहते ही हैं, वास्तवमें समझते नहीं। कोई भी मनुष्य जान-बूझकर अपने-आपका नुकसान नहीं कर कैसे [illegible]। वास्तवमें जब हम समझ लेंगे कि धन क्षणिक और नाशवान् है, और [illegible]थ हमारा जो सम्बन्ध है, वह क्षणिक है और परलोकमें तो वस्तुतः शुभाशुभ [illegible]न्ध ही नहीं है; तथा यह किसी भी प्रकार हमारे साथ जानेकी वस्तु [illegible], होनेसे [illegible]सके संग्रहके लिये हम जो नाना प्रकारके पाप करते हैं, उनका दण्ड हमलोगोंको अवश्य ही मिलेगा, उससे यह लोक नष्ट होगा, इतना ही नहीं, परलोक भी महान् दुःखदायी और भयदायक हो जायगा। ऐसा निश्चय और विश्वास होनेपर फिर हमसे कोई भी पाप नहीं बन सकते।

प्रश्न—हम यह समझते हैं कि परस्त्रीका दर्शन, भाषण, चिन्तन, एकान्तवास शारीरिक और धार्मिक सभी दृष्टियोंसे सर्वथा भयानक है; इसमें लज्जा, मान, धर्म और शरीरकी प्रत्यक्ष हानि है, अतः इस लोक और परलोकमें महान् हानिकर है, ऐसा विवेक-विचारसे समझते हुए भी हम अपने मन-इन्द्रियोंको उस पापसे रोक नहीं सकते, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—अज्ञानके कारण उनमें सुख-बुद्धि हो रही है, इसीलिये उनमें आसक्ति है। इसी कारण हम मन-इन्द्रियोंको उस पापसे रोक नहीं सकते। अतः मनको पुनः बार-बार समझाना चाहिये कि यह सब क्षणभङ्गुर, नाशवान्, दुःखरूप, अपवित्र, घृणित, पापमय और त्याज्य है। इस प्रकार समझाकर नित्य-विज्ञानानन्दघन परमेश्वरमें प्रीति होनेके लिये उनके नामका जप, स्वरूपका चिन्तन तथा स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। ऐसा करनेपर भगवत्कृपासे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर यानी अज्ञानके कारण होनेवाली सुखबुद्धि और आसक्तिका नाश होकर विषयोंमें तीव्र वैराग्य और भगवान्में

****

अनन्य प्रेम हो जाता है, फिर उस पुरुषसे कामविषयक दोष भी नहीं बन सकते। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

बसहिं भगति मनि जेहि उर माहीं।
खल कामादि निकट नहिं जाहीं॥

प्रश्न—मान, बड़ाई और पूजा-प्रतिष्ठा आदि परमात्माकी प्राप्तिमें महान बाधक हैं, यह बात शास्त्रोंमें पढ़ते हैं, अच्छे पुरुषोंसे सुनते हैं, विवेक समझते हैं तथा विचारके द्वारा इनको हटानेकी चेष्टा भी की जाती है, ये दोष नहीं हटते और प्राप्त होनेपर जबरन उनमें फँसावट हो जा... क्या कारण है और इनको हटानेका उपाय क्या है?

उत्तर—ये दोष परमात्माकी प्राप्तिमें महान् बाधक हैं, ऐसी न तो वास्तवमें हमलोगोंकी समझ ही है और न हमारा इनको हटानेका प्रबल प्रयत्न ही है। इन दोषोंके न हटनेमें प्रधान कारण है देहके नाम, रूप आदिमें अभिमान, जो कि सर्वथा अज्ञानमूलक है। देहका ही मान और पूजा-सत्कार होता है तथा देहके नामको लेकर ही कीर्ति होती है, अतः देहको आत्मा माननेके कारण ही देहकी मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठाको मनुष्य अपनी ही मान लेता है और इस अज्ञानके कारण ही उनमें सुखबुद्धि होकर आसक्ति हो जाती है। इसलिये साधारण विवेक और प्रयत्नके द्वारा ये दोष दूर होने संभव नहीं हैं। इस देहाभिमानको हटानेके लिये विचारपूर्वक सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय और सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे जब परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर देहाभिमानका नाश हो जायगा, तब उपर्युक्त सारे दोष अपने-आप ही मिट जायँगे।

प्रश्न—शास्त्रोंने और महापुरुषोंने व्यक्तिगत स्वार्थको बहुत बुरा बतलाया है तथा विचारके द्वारा हम भी बुरा समझते हैं; किंतु शरीरके आराम और भोगोंमें प्रत्यक्ष सुख प्रतीत होनेके कारण हम इसका सर्वथा त्याग नहीं कर पाते। हमलोगोंकी स्वाभाविक ही स्वार्थमें सुखबुद्धि होनेके कारण दूसरोंका

****

अनिष्ट करके भी अपने स्वार्थसाधनकी प्रवृत्ति हो जाती है, इसका क्या कारण है तथा इसको दूर करनेका उपाय क्या है ?

उत्तर—इसमें भी अज्ञानमूलक देहाभिमान और आसक्ति ही प्रधान कारण है। इसी कारण अपने देहमें अहंबुद्धि और दूसरोंमें पर-बुद्धि होती है और इसीसे अपनेमें राग और दूसरोंमें द्वेषबुद्धि हो जाती है। यह राग-द्वेष ही [illegible]स्त दोषोंकी जड़ है और इसीके कारण हम व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग नहीं [illegible]ते। इस अज्ञानमूलक देहाभिमानको और राग-द्वेषको दूर करनेके लिये [illegible]ोंका विचार, सत्पुरुषोंका सङ्ग और निष्कामभावसे जगज्जनार्दनकी [illegible] होनेसे [illegible]श्वरकी ऐकान्तिक भक्ति एवं स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। इस प्रकार करनेपर भगवत्कृपासे उपर्युक्त राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि सम्पूर्ण दोषोंका मूलसहित अत्यन्त अभाव होकर सबमें समबुद्धि हो जाती है, जो कि परम कल्याणदायिनी है।

प्रश्न—यदि कोई कह दे कि शायद इस भोजनमें विष मिला है तो फिर उसमें विष मिला हो चाहे न मिला हो, पर संदेह हो जानेपर हम उसको किसी भी हालतमें खाना नहीं चाहते; किंतु संसारके विषयभोगोंके विषयमें हम बार-बार सुनते हैं कि ये विषके तुल्य हैं, शास्त्रोंमें भी पढ़ते हैं और महापुरुषोंसे भी सुनते हैं, फिर भी उनका त्याग नहीं कर सकते, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—अज्ञानके कारण सदासे विषयोंमें प्रत्यक्ष सुख प्रतीत हो रहा है, इससे उनमें आसक्ति है। जिस प्रकार रोगीको वैद्य समझा देता है कि यह कुपथ्य है, इसका सेवन नहीं करना चाहिये। पर वह आसक्तिवश कुपथ्यको छोड़ नहीं सकता, वैसे ही मनुष्य आसक्तिके कारण विषयोंका त्याग नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार विषका कुपरिणाम तुरंत हो जाता है, उसी प्रकार विषयोंके सेवनका कुपरिणाम तुरंत न होकर विलम्बसे होता है, इसलिये उनके विषयुक्त होने-न-होनेमें संदेह रहता है। इसी कारण बार-

बार सुननेपर भी उनका त्याग होना कठिन-सा हो रहा है; किंतु विवेक और विचारसे दृढ़ निश्चयपूर्वक मनको बार-बार समझानेसे तथा विरक्त महापुरुषोंके सङ्गके प्रभावसे विषयोंसे वैराग्य होकर उनका त्याग हो सकता है।

प्रश्न—जब कि विषयोंके सेवनकी अनादिकालसे आदत पड़ी हुई है तो ऐसी हालतमें उनका त्याग कैसे हो सकता है?

उत्तर—जैसे एक या दो सालका बच्चा टट्टी-पेशाबमें हाथ दे देता है और वही हाथ अज्ञानके कारण मुँहमें भी डाल लेता है; किंतु समझदार पु[illegible] पदार्थमें उसे दोष दिखलाकर, उसे बार-बार बुरा बतलाकर उससे [illegible] हैं और उसके लिये निषेध करते रहते हैं, इससे विवेक होनेप[illegible] यह लड़कपनकी आदत भी दूर हो जाती है। इसी प्रकार विषयोंको बुरी दृष्टिसे देखनेवाले विरक्त पुरुषोंके बार-बार समझाने तथा निषेध करनेपर उनके प्रभावसे उन विषयोंमें वैराग्य होकर उनका त्याग हो सकता है।

प्रश्न—झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, मांस-भक्षण, मद्य और मादक वस्तुका पान, जुआ आदि दुराचार और काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, ममता-अहङ्कार, राग-द्वेष, अज्ञान आदि दुर्गुण सर्वथा हानिकर और त्याज्य हैं तथा यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, उपवास, परोपकार आदि सदाचार और क्षमा, दया, सन्तोष, समता, शान्ति, धीरता, गम्भीरता, शूरवीरता, ज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा, प्रेम आदि उत्तम गुण (सद्गुण) सर्वथा लाभप्रद और सेवन करनेयोग्य हैं। इस प्रकार शास्त्र और महापुरुष कहते हैं तथा विचारसे हम भी ऐसा ही मानते हैं और दुर्गुण-दुराचारके त्यागके लिये तथा सद्गुण-सदाचारके ग्रहणके लिये प्रयत्न भी करते हैं, किंतु सफल नहीं होते, इसका क्या कारण है तथा इसके लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर—ईश्वर, शास्त्र, महापुरुष, परलोक, अपनी आत्मा तथा शुभाशुभ कर्मोंके फलमें विश्वासकी कमीके कारण ही हमारी मान्यता संदेहपूर्ण और कमजोर है तथा हमारा प्रयत्न भी शिथिल है। यही कारण है जो कि हम त्यागने-

योग्य वस्तुओंको त्याग नहीं सकते और ग्रहण करनेयोग्यको ग्रहण नहीं कर सकते। वास्तवमें हम यदि त्यागनेयोग्यको अत्यन्त हानिकर समझ लें तो हमसे न तो कोई भी बुराई हो सकती है और न हमारे हृदयमें कोई बुरा भाव ही टिक सकता है। इसी प्रकार वास्तवमें यदि हम ग्रहण करनेयोग्यको अत्यन्त लाभप्रद मान लें तो फिर सद्गुण और सद्भावको ग्रहण किये बिना हम कैसे रह सकते हैं ?

अतः ईश्वर, शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंमें, परलोकमें, अपने आत्मामें और शुभाशुभ कर्मोंके फलमें पूर्ण विश्वास करना चाहिये। मरनेके बाद शरीरके नाश होनेसे आत्माका कभी नाश नहीं होता **'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'** (गीता २।२०) एवं किये हुए कर्मोंका फल अवश्यमेव ही होता है, ऐसा दृढ़ विश्वास होनेपर हमारे प्रयत्नकी शिथिलता दूर होकर साधन तीव्र हो सकता है; किंतु ऐसा दृढ़ विश्वास सत्-शास्त्र और सत्पुरुषोंका सङ्ग करनेसे, उनकी कृपासे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही होता है। इसलिये अन्तःकरणके मल, विक्षेप, आवरण आदि सारे दोषोंके नाशके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये और उनकी आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के अनन्यशरण होकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌का भजन-ध्यान, स्तुति-प्रार्थना आदि करते हुए उनकी एकनिष्ठ भक्ति करनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे हममें स्वाभाविक ही सदाचार-सद्गुण आ सकते हैं और शीघ्र ही हम परम आनन्द और परम शान्तिस्वरूप विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

प्रश्न—ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वेश्वर, परम दयालु और सबके परम सुहृद् हैं—यह सन्त शास्त्र और महापुरुष कहते हैं तथा विचारके द्वारा हम भी मानते हैं; फिर भी हमलोगोंके द्वारा उन नित्य-ज्ञान-आनन्दस्वरूप परमात्मामें प्रेम और उनकी आज्ञाके पालन न होनेमें क्या हेतु है?

उत्तर—उन परमात्मामें श्रद्धाकी कमी ही प्रधान कारण है। इसी कारण हम संशययुक्त होकर ईश्वरके अस्तित्वको भी कथनमात्र ही मानते हैं। जब हम ईश्वरका अस्तित्व ही शङ्कारहित और पूर्णतया नहीं मानते, तब फिर उनके उपर्युक्त गुणोंमें विश्वास होनेकी तो बात ही क्या है! किंतु जो ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं और उनके गुणोंमें विश्वास करते हैं, वे उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकते। जब कि मनुष्य किसी एक साधारण राजाके राज्यमें निवास करता हुआ राज-सत्ताको माननेके कारण राज्यके कर्मचारियोंके सामने भी उनके विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता; बल्कि अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये राजाको प्रसन्न करनेकी ही सारी चेष्टा करता है; फिर भला बताइये, ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, न्यायकारी और सर्वेश्वर समझनेवाला पुरुष उनके देखते हुए उनके कानूनके विरुद्ध झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि कर ही कैसे सकता है? बल्कि वह तो उनको परम प्रसन्न करनेके लिये उनकी आज्ञाका सदा-सर्वदा हँस-हँसकर पालन ही करता रहता है।

शास्त्र ही उन परमात्माका कानून है। शास्त्रके अनुकूल चलना ही उनकी

कानूनके अनुकूल चलना है तथा शास्त्रके विपरीत आचरण करना ही उनके विरुद्ध आचरण करना है। इस प्रकार उन परमात्मा और उनके कानूनके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषसे कभी किञ्चिन्मात्र भी शास्त्रविरुद्ध कर्म नहीं हो सकते। परमात्माके उपर्युक्त सम्पूर्ण गुणोंका रहस्य जाननेपर तो उसकी परमात्माके सिवा अन्य किसीसे प्रीति हो ही कैसे सकती है? वह तो परमात्माका अनन्य भक्त और धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, समता, शान्ति आदि अनन्त गुणोंका भण्डार बन जाता है।

अतः उन परमात्माके तत्त्व-रहस्यको जाननेके लिये तथा उनमें परम श्रद्धा और प्रेम होनेके लिये हमलोगोंको उन्हें हर समय याद रखते हुए उनकी आज्ञाका पालन करना, उनसे प्रार्थना करना एवं उनमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले महापुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये।

भगवदाश्रयसे लोक-परलोकका कल्याण

लौकिक-पारलौकिक समस्त दुःखोंके नाश एवं समस्त लौकिक-पारमार्थिक सम्पत्तिकी सम्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है—भगवान्का अनन्य आश्रय लेकर सच्चे मनसे उनका भजन करना। और लौकिक-पारलौकिक समस्त सुखोंके नाश एवं समस्त लौकिक-पारमार्थिक सम्पत्तिके सवनाश... साधन है—भोगोंका अनन्य आश्रय लेकर मनसे भगवान्को भुला देना। आज हम भगवान्को भूल गये हैं और हमारा जीवन केवल भोगोंका आश्रयी बन गया है। इसीसे इतने दुःख, संताप और विनाशके पहाड़ हमपर लगातार टूट रहे हैं। जो लोग क्रियाशील और विविध-कर्मसमर्थ हैं, उनको भगवान्की प्रसन्नताके लिये भगवान्का स्मरण करते हुए समयानुकूल स्वधर्मोचित कर्मोंके द्वारा भगवान्की पूजा करनी चाहिये और जो अल्पसमर्थ या असमर्थ हैं, उन्हें आर्त तथा दीनभावसे भगवत्प्रीतिके द्वारा धर्मके अभ्युदय और विश्व-शान्तिके लिये अनन्यभावसे भगवान्को पुकारना चाहिये।

हमारी अनन्य पुकार कभी व्यर्थ नहीं जायगी। हममें होना चाहिये द्रौपदीका-सा विश्वास, होनी चाहिये गजराजकी-सी निष्ठा और सबसे बढ़कर हममें होनी चाहिये प्रह्लादकी-सी आस्तिकता, जिसके वचनको सत्य करनेके लिये भगवान् नृसिंहरूपसे खम्भेमेंसे प्रकट हुए—**'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितम्।'** (भागवत ७।८।१८)

विपत्ति, कष्ट, असहाय स्थिति, अमङ्गल और अन्याय तभीतक हमारे सामने हैं, जबतक हम भगवान्को विश्वासपूर्वक नहीं पुकारते। एक महाशयने यह घटना सुनायी थी। एक घरमें गुंडोंने पतिको पकड़ लिया और दो गुंडे

उसकी स्त्रीको नंगी करके उसपर बलात्कार करनेको तैयार हुए। दोनों पति-पत्नी निरुपाय थे—असहाय थे। पत्नीने आर्त होकर—रोकर भगवान्‌को पुकारा। उसे द्रौपदीकी याद आ गयी। बस, तत्काल ही वे दोनों गुंडे आपसमें लड़ गये। एकने दूसरेको छूरा मार दिया। उसके गिरते ही पति-पत्नीको छोड़कर शेष गुंडे भाग गये और इस बीचमें पत्नीको कंधेपर उठाकर पतिको बचकर भाग निकलनेका अवसर मिल गया।

भारतकी सती देवियाँ आज द्रौपदीकी भाँति भगवान्‌को पुकारें तो भगवान् कहीं गये नहीं हैं। वे तुरंत किसी भी रूपमें प्रकट होकर सती देवियोंके सारे दुःख हर लें और उसी क्षणसे उनको दुःख पहुँचानेवालोंके विनाशकी भी गारंटी मिल जाय।

दुष्ट दुःशासनके हाथोंमें पड़ी हुई असहाया द्रौपदीने आर्त होकर मन-ही-मन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करके कहा था—

गोविन्द ! द्वारकावासिन् ! कृष्ण ! गोपीजनप्रिय ॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ ! हे रमानाथ ! व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ॥
कृष्ण ! कृष्ण ! महायोगिन् ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥

(महा० सभा० ६८।४१-४३)

'हे गोविन्द ! द्वारकावासी सच्चिदानन्द प्रेमधन ! गोपीजनवल्लभ ! सर्वशक्तिमान् प्रभो ! कौरव मुझे अपमानित कर रहे हैं। क्या यह आपको मालूम नहीं है ? हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे आर्तिनाशन जनार्दन ! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूबी जा रही हूँ। आप मेरा उद्धार कीजिये। हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगी ! हे विश्वात्मा और विश्वके जीवनदाता गोविन्द ! मैं कौरवोंसे घिरकर संकटमें पड़ गयी हूँ। आपके शरण हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये।'

****

द्रौपदीकी आर्त पुकार सुनकर भक्तवत्सल प्रभु उसी क्षण द्वारकासे दौड़े आये और द्रौपदीको वस्त्र दान कर उसकी लाज बचायी। पर दुष्ट दुःशासनने द्रौपदीके जिन केशोंको खींचा था, वे खुले ही रहे दुःशासनको दण्ड मिलनेके दिनतक। द्रौपदीके खुले केश थे। पाण्डवोंके साथ वह वनमें रहती थी। भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे मिलने गये। वहाँ द्रौपदीने एकान्तमें रोकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'मैं पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी बहिन और तुम्हारी सखी होकर भी कौरवोंकी सभामें घसीटी जाऊँ! यह कितने दुःखकी बात है। भीमसेन और अर्जुन बड़े बलवान् होनेपर भी मेरी रक्षा नहीं कर सके! धिक्कार है इनके बल-पौरुषको! इनके जीते-जी दुर्योधन क्षणभरके लिये भी कैसे जीवित है? श्रीकृष्ण! दुष्ट दुःशासनने भरी सभामें मुझ सतीकी चोटी पकड़कर घसीटा और ये पाण्डव टुकुर-टुकुर देखते रहे!' इतना कहकर द्रौपदी रोने लगी। उसकी साँस लंबी-लंबी चलने लगी और उसने गद्गद होकर आवेशसे कहा—'श्रीकृष्ण! ये पति-पुत्र, पिता-भ्राता मेरे कोई नहीं हैं; पर क्या तुम भी मेरे नहीं रहे? श्रीकृष्ण! तुम मेरे सम्बन्धी हो, मैं अग्निकुण्डसे उत्पन्न पवित्र रमणी हूँ; तुम्हारे साथ मेरा पवित्र प्रेम है और तुमपर मेरा अधिकार है एवं तुम मेरी रक्षा करनेमें समर्थ भी हो। इसलिये तुम्हें मेरी रक्षा करनी ही होगी।' तब श्रीकृष्णने रोती हुई द्रौपदीको आश्वासन देकर कहा—

रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भामिनि।
बीभत्सुशरसंच्छन्नाञ्छोणितौघपरिप्लुतान्॥
निहतान् वल्लभान् वीक्ष्य शयानान् वसुधातले।
यत् समर्थं पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचः॥
सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि।
पतेद् द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत् पृथिवी शकलीभवेत्॥
शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत्।

(महा० वन० १२। १२८-१३१)

'कल्याणी ! तुम जिनपर क्रोधित हुई हो, उनकी स्त्रियाँ भी थोड़े ही दिनोंमें अर्जुनके भयानक बाणोंसे कटकर खूनसे लथपथ हो जमीनपर पड़े हुए अपने पतियोंको देखकर तुम्हारी ही भाँति रुदन करेंगी। मैं वही काम करूँगा, जो पाण्डवोंके अनुकूल होगा। तुम शोक मत करो। मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम राज-रानी बनोगी। चाहे आकाश फट पड़े, हिमालय टुकड़े-टुकड़े हो जाय, पृथ्वी चूर-चूर हो जाय और समुद्र सूख जाय, परन्तु द्रौपदी ! मेरी बात कभी असत्य नहीं हो सकती।'

ये द्रौपदीके दुःखोंका नाश करनेवाले भगवान् आज कहीं चले नहीं गये हैं। द्रौपदीके सदृश विश्वासपूर्ण हृदयसे उन्हें पुकारनेवालोंकी कमी हो गयी है। यदि दुःखसागरसे सहज ही पार उतरना है तो विश्वास करके अनन्यभावसे भगवान्‌को पुकारना चाहिये। भारतके हिंदुओंकी यह श्रद्धा जिस दिनसे घटने लगी, जबसे उनकी यह प्रार्थनाकी ध्वनि क्षीण हो गयी, तभीसे उनपर दुःख आने लगे और तभीसे वे सन्मार्ग और सुखके सुपथसे भ्रष्ट हो गये ! अब फिर श्रद्धा-विश्वासके साथ भगवान्‌को पुकारिये। देखिये, आपके इहलौकिक दुःख दूर होते हैं या नहीं और देखिये, आपको भगवान्‌की अमृतमयी अनुकम्पासे भगवान्‌के दुर्लभ चरणारविन्दकी प्राप्ति सहज ही होती है या नहीं !

भगवच्चिन्तनका प्रभाव

भगवत्कृपा वास्तवमें अनुभव करनेकी वस्तु है, कहनेसे तो उसका तिरस्कार होता है; क्योंकि चाहे हम अपनी समझसे कितना ही बढ़ा-चढ़ाकर कहें, भगवत्कृपाके सहस्रांशका भी वर्णन नहीं कर सकते। जिसके पास जो वस्तु है, वह उसे ही देगा; जो वस्तु उसके पास है ही नहीं, वह उसे कैसे दे सकता है—यह नियम है। भगवान् कृपामय हैं—'प्रभु-मूरति कृपामई है।' अतएव वे सर्वदा, सर्वथा सब जीवोंको कृपाका ही दान करते हैं। तनिक-सा विचार करनेपर भगवान्‌की इस कृपाको हम पग-पगपर अनुभव कर सकते हैं। भगवान्‌ने हमको मनुष्य बनाया, पशु नहीं, पक्षी नहीं, चींटी नहीं, वृक्ष नहीं, पत्थर नहीं—इसमें उनकी कितनी कृपा भरी हुई है! अनन्त जन्मोंके पश्चात् चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भकटते यह अत्यन्त दुर्लभ मानव-शरीर भगवत्कृपासे ही प्राप्त हुआ है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

इस प्रकार भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे हमें अधिकार-विशेष मनुष्य-योनि—कर्मयोनि प्राप्त हुई है (अन्य सब तो भोग-योनियाँ हैं, उनमें जीव केवल अपने प्रारब्धकर्मोंका फल भोगता है; नवीन कर्म करनेके लिये वह स्वतन्त्र नहीं है); हम मोक्षके द्वारपर खड़े कर दिये गये हैं। अब, मुक्तिको

प्राप्त करें या द्वारसे वापस लौट आयें, यह हमपर निर्भर करता है। हमें खजाञ्चीके ऊपर चेक मिल गया और रुपये लाने हम खजाञ्चीके पास जा रहे हैं। रास्तेमें हम चेकका दुरुपयोग करें, उसको फाड़ डालें, जला डालें तो हमारी कितनी मूर्खता है। चेकको गवाँ बैठे, फिर रुपये कहाँ? ठीक इसी प्रकार यदि हम मानव-देहरूपी चेकको प्राप्त कर प्रमादवश अहङ्कार, कामना,क्रोध, द्वेष आदिके परायण हो भगवान्‌को प्राप्त न करें तो हमें भगवान्‌के आज्ञानुसार शूकर-कूकर आदि नीच योनियोंमें भटकना पड़ेगा तथा अन्तमें घोर नरकोंमें जाना पड़ेगा—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ *

(गीता १६। १८-२०)

अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ने कहा—'**माम् अप्राप्य**'—'मुझको न पाकर।' इसपर यह प्रश्न होता है कि जब उपर्युक्त असुर-स्वभाववाले पुरुषोंको भगवत्प्राप्तिकी बात ही क्या, ऊँची गति भी नहीं मिलती, केवल आसुरी योनि ही प्राप्त होती है, तब भगवान्‌ने '**माम् अप्राप्य**' यह कैसे कहा? ध्यानपूर्वक सोचनेसे इन वचनोंमें बहुत रहस्य दिखायी पड़ता है। भगवान् यहाँ खुले

---

* 'वे अहङ्कार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं। उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ। हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं।'

****

शब्दोंमें यह घोषणा कर रहे हैं कि मानव-योनिमें जीवको भगवत्प्राप्तिका जन्म-सिद्ध अधिकार है। ऐसे अधिकारको प्राप्त करके भी यदि मनुष्य भगवान्‌को प्राप्त नहीं करते तो यह कितने दुःखकी बात है। वास्तवमें भगवान् जीवकी इस दयनीय दशापर यहाँ तरस खा रहे हैं। इस प्रकार भगवद्वचनोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवत्प्राप्तिके हम सच्चे पात्र हैं, अधिकारी हैं। यदि इतने दिनतक हम उससे वञ्चित रहे तो यह हमारे प्रमादका फल है, हमारी मूर्खताका नतीजा है। भगवान्‌की तो हमपर पूर्ण दया है, उनका वरदहस्त हमारे मस्तकपर रखा हुआ है तथा वे दर्शन देनेके लिये तैयार हैं; पर हमारे प्रमादके कारण विलम्ब हो रहा है। अतएव आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपने इस प्रमादको छोड़ें और अपने जन्मसिद्ध अधिकारको प्राप्त कर सदाके लिये सर्वथा निश्चिन्त हो जायँ।

राजपुत्रका राज्यपर जन्मसे स्वभावसिद्ध अधिकार है। बच्चा नाबालिग है। गवर्नमेंट कोर्ट ऑफ वार्ड्स (Court of Wards) नियुक्त कर राज्यकी व्यवस्था करती है। बच्चेको योग्य बनाकर सब अधिकार उसको सौंप देती है। परमात्माकी प्राप्ति हमारे बापका राज्य है। अतएव उसपर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। परमात्मा हमें योग्य बनाते हैं, सारा 'योगक्षेम' स्वयं वहन करते हैं। अतः हमारे उद्धारमें चिन्ता ही क्या है।

लौकिक जीवनमें हम देखते हैं कि यदि राजकुमार, जिसको अधिकार प्राप्त होनेवाला है, योग्य न निकले और मार-पीट, आग लगाना, चोरी-जारी आदि कुकर्म करने लगे तो सरकार उसके अधिकारको छीनकर उसे कारागृहमें डाल देती है अथवा आवश्यकता पड़नेपर निर्वासित भी कर देती है। राजकुमारको इस प्रकार अधिकारसे वञ्चित करने एवं दण्ड देनेसे सरकारको अप्रसन्नता ही होती है, पर मर्यादाके लिये सब करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार जब हम मोहमें फँसकर छल, कपट, अनाचार, व्यभिचार, अत्याचार, हिंसा आदि पापकर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं तो भगवान्‌को बाध्य होकर हमें दण्ड देना

पड़ता है (वास्तवमें भगवान्‌का दण्ड-विधान भी कृपासे परिपूर्ण होता है। वे यदि मारते भी हैं तो तारनेके लिये) परन्तु भगवान् बड़ा पश्चात्ताप करते हैं कि इसको परमपद-प्राप्तिके लिये मैंने सारे साधन दिये; किन्तु यह भजन-ध्यान, सेवा-त्याग आदि सत्कर्मोंको छोड़कर विषय-भोगोंमें आसक्त रहा, जिससे भगवत्प्राप्तिरूप अपने अधिकारको खोकर नाना भाँतिकी घोर यातनाओंको भोग रहा है।

वर्षामें देखा होगा दीपक जलाते ही हजारों पतंगे चारों ओरसे उड़-उड़कर दीपककी लौपर गिरते हैं और अपने शरीरका उसमें हवन कर देते हैं। यदि कोई मनुष्य इस प्रकार उनको जलते देखकर दया करके दीपक बुझा देता है तो पतंगे दीपक बुतानेवालेकी दयाके तत्त्वको तो समझते नहीं; अतः वे मन-ही-मन उसपर बड़ा क्रोध करते हैं। बोलनेकी शक्ति उनमें है नहीं; यदि हो तो उनके क्रोधको, उनके दुःखको हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं। पर उनको दुःख होता अवश्य है। इसी प्रकार जब हम पतंगोंकी भाँति अंधे हो विषय-भोगोंमें फँसकर अपना सर्वनाश करने लगते हैं तो भगवान् हमपर बड़ी कृपा करके, हमारे परम हितके लिये उन भोगोंको हमसे छीन लेते हैं। पर भगवान्‌की कृपाको न समझकर हम बड़े दुःखी होते हैं और कभी-कभी तो क्रोधमें आकर भगवान्‌को भला-बुरा भी कह बैठते हैं। दीपक बुतानेवालेकी अपेक्षा भगवान्‌की हमपर अनन्त गुणा अधिक दया है, कृपा है—हम इस बातको नहीं समझते; इसीसे भोगोंके नाश होनेपर तथा मनके प्रतिकूल अवसरोंपर दुःखी हो जाते हैं। अतएव प्रतिकूल एवं अनुकूल सभी परिस्थितियोंमें भगवान्‌की अपार कृपाका दर्शन करते हुए शोक, चिन्ता, भय आदि नहीं करना चाहिये।

संसार क्या है? एक नाट्यशाला। सभी प्राणी इस नाट्यशालाके पात्र हैं। भगवान् इस नाट्यशालाके स्वामी हैं। गम्भीर दृष्टिसे सोचें तो भगवान् स्वामी भी हैं और नाटकके पात्र भी। सब प्राणियोंके रूपमें वे ही तो हमारे साथ खेल रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णने ग्वाल-बालोंके साथ क्रीड़ाएँ कीं,

भगवान् रामने वानर-भालुओंके साथ लीलाएँ कीं। फिर हम तो मनुष्य हैं। अतएव सब प्राणियोंके रूपमें अपने स्वामीको देख सबके साथ शुद्ध प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। भगवत्कृपाको समझनेका यह सीधा उपाय है।

स्टेज (मंच) पर आकर अपना अभिनय दिखानेके लिये सभी पात्रोंको अवसर दिया जाता है। प्रत्येकका समय निश्चित होता है। अपने निश्चित समयमें वह जैसा भला-बुरा अभिनय करता है,उसीसे उसकी सफलता एवं असफलताका निर्णय होता है। हमें भी अपना अभिनय दिखानेके लिये समय मिला है। निश्चित समय समाप्त होते ही हमें स्टेजसे हट जाना पड़ेगा। अतएव समय बड़ा मूल्यवान् है। वह हाथसे निकल गया तो न मालूम फिर कब मिलेगा। लाखों-करोड़ों जीव मौका माँग रहे हैं। न जाने कब हमारा नंबर आवेगा। निश्चित समय निकल जानेपर लाख रुपया देनेपर भी पाँच मिनट नहीं मिलेगा। एक सेकेंड भी समय बढ़नेकी गुंजाइश नहीं है। इसलिये जल्दी-से-जल्दी कार्यकी सिद्धि कर लेनी चाहिये। हमें नाट्यशालाके स्वामी उस परमात्माको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। स्वामी बड़े दयालु हैं, हमपर बड़ी कृपा करते हैं। वे सब भूलोंको क्षमा कर देते हैं। पर हमें छूटका आसरा कभी भी नहीं लेना चाहिये। स्वामीको अपने कार्यसे प्रसन्न करनेके लिये उसके सङ्केतपर नाचनेके लिये कठपुतली बन जाना चाहिये। अपने स्वामीके सङ्केतको हम समझते रहें, स्वामीकी इच्छाके अनुकूल बन जायँ। यही यथार्थ शरण है, वास्तविक भक्ति है।

भगवान्ने श्रीगीताजीके दसवें अध्यायमें आठवें श्लोकसे लेकर ग्यारहवें श्लोकतक प्रभावसहित भक्तियोगका वर्णन किया है। वहाँ नवम श्लोकमें जो भक्तिका स्वरूप बतलाया है, उसका पालन करना ही सच्चे रूपसे भगवान्की शरण होना है। भगवान्ने बतलाया—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०।९)

****

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें निरन्तर रमण करते हैं।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने पहला पद प्रयुक्त किया—'**मच्चित्ताः**'—निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाले। इसका भाव यह कि भक्तोंको चाहिये कि नित्य-निरन्तर अपने स्वामी श्रीभगवान्‌का चिन्तन करते हुए बाजीगरके झमूरेकी भाँति सब काम करें। झमूरा सब काम करता है—चलता है, फिरता है, उछलता है, कूदता है; पर उसका मन निरन्तर अपने स्वामी बाजीगरकी ओर लगा रहता है। साथ ही उसको यह पूर्णरूपसे ज्ञात है कि जो कुछ हो रहा है, सब बाजीगरका खेल है। अतएव किसी घटना विशेषसे वह बिलकुल ही प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार भक्तको चाहिये कि वह अपनेको मदारी श्रीभगवान्‌के हाथका झमूरा समझे और जगत्‌के जितने भी व्यापार हैं, सब उस मदारीके खेल हैं—ऐसा मानकर किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिसे मनमें हर्ष या उद्वेगको स्थान न दे। अपनी तन, मन, धन आदि प्रत्येक वस्तुको, जिसपर वह अपना अधिकार समझता है, जिसकी उसको ममता है, भगवान्‌के अर्पण कर दे।

भगवान्‌में अपने चित्तको किस प्रकार लगावे—इसका वास्तवमें कोई उदाहरण मिलता ही नहीं। यों समझानेके लिये एक अंशमें चकोर पक्षीका उदाहरण दिया जा सकता है। चकोर अपने प्रेमास्पद चन्द्रमांको हर समय देखता रहता है। इसी प्रकार हम अपने इष्टको मानसिक नेत्रोंसे हर समय देखते रहें। चित्तवृत्तियोंकी धारा बँध जाय—प्रभुसे लेकर हमारेतक। कोई दूसरा पक्षी उड़ा और चकोर तथा चन्द्रमाके बीचकी धारामें व्यवधान आ गया। चकोर इस व्यवधानको स्वीकार कर लेता है, वह मरता नहीं। परन्तु हमें तो व्यवधान स्वीकार न करके मरना ही स्वीकार कर लेना चाहिये। एक क्षणका

भी व्यवधान हो, एक क्षणके लिये भी दूसरी बातका स्मरण हो तो तुरंत प्राण छटपटाने लगें और वे शरीरसे निकल जायँ। हम जान-बूझकर न मरें, जान-बूझकर मरना तो पाप है; पर प्राण स्वतः शरीरसे निकल जायँ। सच्चा प्रेम तो यही है। यदि इतनी तत्परता न हो कि व्यवधान पड़नेपर प्राण न रहें तो भी वे उसे अपना लेते हैं। किन्तु इस प्रकारकी छूट लेनेवालेकी अपेक्षा न लेनेवाला गौरवका पात्र है। यह अभिमान नहीं करना चाहिये कि हम छूट नहीं लेते, नहीं तो प्रभुको उस अभिमानको दूर करनेके लिये कोई दूसरी परिस्थिति उत्पन्न करनी पड़ेगी, जिससे बाध्य होकर हमें क्षमा माँगनी पड़ेगी। अतएव **'मच्चिताः'** का यही भाव है कि जहाँतक हो अपनी ओरसे व्यवधान पड़ने ही न दे और यदि पड़ ही जाय तो मछलीकी भाँति प्राण तड़पने लगें। यदि ऐसा हो जायगा तो फिर प्रभु व्यवधान पड़ने ही न देंगे, क्योंकि यह उनकी प्रतिज्ञा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९।२२)

'जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

भगवान्ने कहा—**'योगक्षेमम् अहं वहामि'**—योग (अप्राप्तकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्तकी रक्षा) मैं स्वयं वहन करता हूँ। इस प्रकार भगवान्की प्राप्तिके लिये जो-जो आवश्यक वस्तु या साधन हमें प्राप्त हैं, सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उनकी रक्षा करना और जिस वस्तु या साधनकी कमी है उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना—इसकी जिम्मेवारी भगवान्ने अपने ऊपर ली। अब भला, हमारे उद्धारमें क्या संदेह एवं विलम्ब हो सकता है। बस, आवश्यकता है केवल नित्य-निरन्तर अनन्यभावसे चिन्तन करनेकी

भगवान्‌ने आगे कहा **'मद्गतप्राणाः'**—मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले। हमलोगोंके प्राण शरीरगत हैं। शरीर गया, प्राण गये। पर उपर्युक्त प्रकारके भक्तोंके प्राणोंके आश्रय भगवान् हैं; जैसे मछलीके प्राणोंका आश्रय जल है। वे भक्त भगवान्‌के लिये ही जीते हैं। समस्त इन्द्रियोंसे खाने, पीने, सोने आदिकी जो भी चेष्टाएँ होती हैं, सब भगवान्‌के लिये होती हैं। उन सबमें उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं रहता। फिर आगे कहा—**'बोधयन्तः परस्परम्', 'कथयन्तश्च मां नित्यम्'**—मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभाव और तत्त्वको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए। वास्तवमें समय इस प्रकार ही बीतना चाहिये। अब उपर्युक्त प्रकारसे भजन करनेवालोंकी गतिका वर्णन करते हैं—**'तुष्यन्ति च रमन्ति च'**—निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार केवलमात्र अपने पतिमें ही रमण करती है, दूसरा पुरुष उसकी दृष्टिमें रहता ही नहीं, उसी प्रकार भक्त नित्य भगवान्‌में ही रमण करता है अर्थात् प्रेमपूर्वक भगवान्‌का ही निरन्तर भजन करता है। वह भगवान्‌के सिवा दूसरी वस्तुको नहीं चाहता। उसके नेत्र जहाँ भी जाते हैं, वहीं वह भगवान्‌को ही देखता है। जैसे गोपियोंको सर्वत्र श्रीकृष्ण ही दिखायी पड़ते थे—**'जित देखौं तित स्याममई है'**, उसी प्रकार भक्तको सम्पूर्ण भूतोंमें वासुदेव ही व्यापक दिखायी पड़ते हैं और सम्पूर्ण भूत वासुदेवके अन्तर्गत। वह **'एकत्वमास्थितः'** भजता है अर्थात् भगवान्‌के सिवा और कुछ उसकी दृष्टिमें रह ही नहीं जाता। इस प्रकार उसमें न तो कोई कामना रहती है और न किसी प्रकारका भय ही। वह तो सर्वथा प्रेममें विचरण करता है। सारांश यह कि भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और नामरूपका कानोंसे श्रवण करना, वाणीसे कथन करना तथा मनसे मनन करना ही भक्तका भगवान्‌में रमण करना है।

साधकको चाहिये कि वह अपने साधनमें इतना तत्पर हो जाय कि एक

क्षणका भी व्यवधान मृत्युके समान बन जाय। ऊँची श्रेणीके भक्त कि‍सी प्रकारकी छूट नहीं चाहते, चाहे प्राण चले जायँ, मुक्ति न मिले, भगवत्प्राप्ति न हो। वे मुक्तिके लिये भजन नहीं करते, भजनके लिये ही भजन करते हैं, अतः एक क्षणके लिये भी चिन्तन छूटना उनके लिये असह्य हो जाता है। वे भगवान्से माँगते हैं तो यही कि हे प्रभो! एक क्षणका भी व्यवधान न पड़े। हमारी ऐसी अवस्था बन जाय कि एक क्षणका व्यवधान भी हम सहन न कर सकें। ऐसे प्रेमी भक्त ही मुक्तिको ठुकरा सकते हैं। पर हमें अभीतक भजनका रस प्राप्त नहीं हुआ है। इसीसे हम व्यवधानको सहन कर रहे हैं। यदि भजनका रस समझमें आ जाय तो फिर क्षणभरके लिये भी भजन छूटे, यह सम्भव नहीं। अतएव हमारी तो भगवान्से यही प्रार्थना है कि प्रभो! हमें ऐसा बना दीजिये कि हम आपके चिन्तनमें व्यवधान सहन न कर सकें। बस, इतना होनेसे सब काम बन जायगा।

योगक्षेमका वहन

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

कोई-कोई इस श्लोकका सर्वथा सकाम और निवृत्तिपरक अर्थ करते हैं और संसारयात्राकी कुछ भी चिन्ता न कर केवल भगवान्पर निर्भर रहते हुए भजन करना ही उचित मानते हैं। इसपर वे निम्नलिखित दृष्टान्त दिया करते हैं।

एक ईश्वरभक्त गीताभ्यासी निवृत्तिप्रिय ब्राह्मण थे। वे अर्थको समझते हुए समस्त गीताका बार-बार पाठ करने एवं भगवान्के नामका जप तथा उनके स्वरूपका ध्यान करनेमें ही अपना सारा समय व्यतीत करते थे। वे एकमात्र भगवान्पर ही निर्भर थे। जीविकाकी कौन कहे, वे अपने खाने-पीनेकी भी परवा नहीं करते थे। उनके माता-पिता परलोक सिधार चुके थे। वे तीन भाई थे। तीनों ही विवाहित थे। वे सबसे बड़े थे और दो भाई छोटे थे। दोनों छोटे भाई ही पुरोहितवृत्तिके द्वारा सारे गृहस्थका काम चलाया करते थे। एक दिनकी बात है, दोनों छोटे भाइयोंने बड़े भाईसे कहा—'आप कुछ समय जीविकाके लिये भीं निकाला करें तो अच्छा रहे।' बड़े भाई बोले—'जब सबका भरण-पोषण करनेवाले विश्वम्भर भगवान् सर्वत्र सब

समय मौजूद हैं, तब अपनी जीविकाकी चिन्ता करना तो निरा बालकपन है। भगवान्‌ने गीताके नवम अध्यायके बाईसवें श्लोकमें स्वयं योगक्षेमके वहनका जिम्मा लिया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

इसलिये भाई! हमलोगोंको तो बस, अपने भगवान्‌पर ही निर्भर रहना चाहिये। वे ब्रह्मासे लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र जीव-परमाणुतक—सबका ही भरण-पोषण करते हैं। फिर जो उनके भरोसे रहकर नित्य-निरन्तर उन्हींका स्मरण-चिन्तन करता है, उसका योगक्षेम चलानेके लिये तो वे वचनबद्ध हैं। हमलोगोंको तो नित्य गीताका अध्ययनाध्यापन और निरन्तर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन-स्मरण ही करना चाहिये।

दोनों भाइयोंने कहा—'भाई साहब, आपका कहना तो ठीक है पर जीविकाके लिये कुछ भी चेष्टा किये बिना, भगवान् किसीको घर बैठे ही नहीं दे जाते।' बड़े भाईने विश्वासके साथ उत्तर दिया—'श्रद्धा-विश्वास हो तो घर बैठे भी भगवान् दे सकते हैं।' दोनों छोटे भाइयोंने कुछ झुँझलाकर कहा—'भाई साहब! बातें बनानेमें कुछ नहीं लगता। हमलोग कमाकर लाते हैं, तब घरका काम चलता है। आप केवल पड़े-पड़े श्लोक रटना और बड़ी-बड़ी बातें बनाना जानते हैं। आपको पता ही नहीं, हमलोग कितना परिश्रम करके कुछ जुटा पाते हैं। आप जब हमलोगोंसे अलग होकर घर चलायेंगे तब पता लगेगा; तब हम देखेंगे कि जीविकाके लिये बिना प्रयत्न किये आपका काम कैसे चलता है।' बड़े भाईने धीरजके साथ कहा—'भाई तुमलोग यही ठीक समझते हो तो बहुत आनन्द। मुझे अलग कर दो। मैं किसीपर भाररूप होकर नहीं रहना चाहता। भगवान् किस प्रकार मेरा निर्वाह करेंगे, इसको वे खूब जानते हैं।' इसपर दोनों भाई निश्चिन्त-से होकर बोले—'बहुत ठीक है। कल ही हम सबको अपने-अपने हिस्सेके अनुसार बँटवारा

कर लेना चाहिये।' बड़े भाईने कहा—'जिस प्रकार तुमलोग उचित समझो, उसी प्रकार कर सकते हो, मेरी ओरसे कोई आपत्ति नहीं है। मैं तो तुम लोगोंकी राजीमें ही राजी हूँ।'

दूसरे ही दिन दोनों भाइयोंने, जो कुछ सामान-सम्पत्ति थी, सबके तीन हिस्से कर दिये। ब्राह्मण भक्तके हिस्सेमें एक छोटा-सा कच्चा मकान, कुछ नकद रुपये और कुछ साधारण गहने-कपड़े तथा रसोईके बर्तन वगैरह आये। तीसरे हिस्सेकी यजमानोंकी वृत्ति भी उनके हिस्सेमें दे दी गयी; पर यजमानोंका यह हाल था कि उनके पास यदि कोई पुरोहित चला जाता तो भले ही उनसे कुछ ले आता; घर बैठे पुरोहित महाराजको कोई याद नहीं करता।

इस प्रकार जब तीनों भाई अलग-अलग हो गये, तब उस ब्राह्मण भक्तने अपनी पत्नीसे कहा—'मेरे भाइयोंने हमलोगोंको जो कुछ भी दिया है, वह बहुत ही सन्तोषजनक है; किंतु अब हमें इस बातका पूरा ध्यान रखना चाहिये कि हम केवल भगवान्‌पर ही निर्भर करें। किसीके भी घर जाकर कभी कुछ भी याचना न करें और न किसीके देनेपर ही कुछ ग्रहण करें। भगवान् स्वयं योगक्षेम वहन करनेवाले हैं, वे ही हमारा योगक्षेम चलायेंगे। भाइयोंने जो कुछ दिया है, अभी तो उसीसे काम चलाना चाहिये।'

ब्राह्मणी भी ईश्वरकी भक्त और पतिव्रता थी। उसने पतिकी बात बड़े आदरके साथ स्वीकार की। उसने सोचा—'अभी तो निर्वाहके लिये कुछ हाथमें है ही। इसके समाप्त होनेके बाद स्वामी जैसा उचित समझेंगे, अपने-आप ही व्यवस्था करेंगे।'

वे भगवद्भक्त ब्राह्मण प्रातःकाल चार बजे ही उठते और शहरसे एक मील दूर एक तालाबपर जाकर शौच-स्नान करते। फिर सन्ध्या-वन्दनके अनन्तर भगवान्‌की मानस-पूजा, जप, ध्यान करके सम्पूर्ण गीताका भावसहित अर्थको समझते हुए पाठ किया करते, इसके बाद दिनमें ग़्यारह बजे घर लौटकर भोजनादि करते। भोजन करनेके बाद पुनः दोपहरमें एक बजे वापस

****

वहीं तालाबपर जाकर जप, ध्यान, स्वाध्याय करते। फिर सायंकाल चार बजे शौच-स्नान करके सन्ध्या-वन्दन करते। तदनन्तर मानस-पूजा करके सत्-शास्त्रोंका श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करते। सूर्यास्तके बाद भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान किया करते थे। अन्तमें रातको आठ बजेके बाद घर लौटकर भोजन करते और फिर अपनी पत्नीसे सदालाप करके दस बजे शयन किया करते। उनकी साध्वी धर्मपत्नी भी दोनों समय पतिको भोजन कराकर स्वयं भोजन करती और प्रतिदिन पतिको नमस्कार करना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, उनकी आज्ञाका पालन करना तथा ईश्वरका भजन-ध्यान करना अपना परम कर्तव्य समझती थी। इस प्रकार दोनोंका समय बीतता था। प्रतिदिन व्यय तो होता ही था। कुछ दिनोंमें उनके पास जो कुछ रुपये-पैसे थे, सब समाप्त हो गये। पत्नीने स्वामीसे कहा—'रुपये सब पूरे हो गये हैं।' पतिने पूछा—'क्या गहने-कपड़े भी समाप्त हो गये?' पत्नीने कहा—'नहीं।' इसपर ब्राह्मणीने सोचा—अभी गहने-कपड़ोंसे काम चलानेकी स्वामीकी सम्मति है। अतएव वह उन्हें बेचकर घरका काम चलाने लगी। पर वे गहने-कपड़े भी कितने दिनके थे। वे भी समयपर शेष हो गये। फिर एक दिन पत्नीने कहा—'गहने-कपड़े भी सब समाप्त हो गये हैं।' पतिने कहा—'कोई चिन्ता नहीं, अभी बर्तन-भाँडे और मकान तो हैं ही।' इससे ब्राह्मणीने समझा कि अभी स्वामीकी सम्मति मकान और बर्तनोंसे काम चलानेकी है। उसने प्रसन्नतासे मकानको बेच दिया और वे दूसरे किरायेके मकानमें चले गये। कुछ दिन इससे काम चला। इसके बाद बर्तन-भाँडे भी बेच दिये, पर उनसे क्या होता। अन्तमें ब्राह्मणीके पास तन ढाँकनेके लिये एक साड़ी बची और ब्राह्मण देवताके लिये एक धोती और एक गमछा बचा। एक दिन ब्राह्मण देवता जब चार बजे जंगलकी ओर जाने लगे तो पत्नीने बड़े विनीतभावसे हाथ जोड़कर निवेदन किया—'स्वामिन्! अब सब कुछ शेष हो गया है। घर तो किरायेका है, बर्तन-भाँडे भी सब समाप्त हो

चुके हैं। केवल आपकी यह गीताजीकी पोथी, धोती, गमछा और मेरी एक साड़ी बची है। आज भोजनके लिये घरमें अन्न भी नहीं है। जो कुछ था, कल शेष हो गया।' ब्राह्मणने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया और वे सदाकी भाँति जंगलकी ओर चल दिये।

सदाकी भाँति ही पण्डितजी तालाबपर गये और शौच-स्नानसे निवृत्त हो उन्होंने सन्ध्या-गायत्रीजप आदि नित्यकर्म किया। उसके अनन्तर जब वे गीताका पाठ करने लगे तो उनके सामने वही अपना इष्ट श्लोक आया—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९।२२)

उस दिन पण्डितजी इस श्लोकको पढ़कर चौंक पड़े और इसे पढ़ते हुए मन-ही-मन विचार करने लगे कि 'मालूम होता है, इस श्लोकमें भगवान्‌के वचन नहीं हैं, शायद क्षेपक होगा। यदि यह भगवान्‌का कथन होता तो भगवान् क्या मेरी सँभाल नहीं करते? मैं तो सर्वथा उन्हींपर निर्भर हूँ। उन्होंने आजतक मेरी सुधि जरा भी नहीं ली।' ऐसा समझकर ब्राह्मणने उस श्लोकपर हरताल लगा दी और वे उस श्लोकको छोड़कर गीताका पाठ करने लगे।

ब्राह्मण देवताके हृदयके इस भावको देखकर सर्वहृदयेश्वर भक्त-वाञ्छाकल्पतरु भगवान् तुरंत एक विद्यार्थीके रूपमें घोड़ेपर सवार होकर ब्राह्मणके घर उनकी धर्मपत्नीके पास पहुँचे और मिठाईका एक थाल भेंटमें रखकर पूछने लगे—'गुरुजी कहाँ हैं?' ब्राह्मणपत्नीने कहा—'यहाँसे एक मील दूर एक तालाब है, वे प्रतिदिन वहाँ शौच-स्नान और नित्यकर्मके लिये जाते हैं और लगभग ग्यारह बजे लौटते हैं। अभी दस बजे हैं, उनके आनेमें एक घंटेकी देर है। आप कौन हैं और यह मिठाई किसलिये लाये हैं!' विद्यार्थीने उत्तर दिया—'मैं पण्डितजीका शिष्य हूँ और गुरुजीकी तथा आपकी सेवाके लिये यह मिठाई लाया हूँ। इसे आप रख लें।' ब्राह्मणपत्नीने

****

कहा—'पण्डितजी न किसीको शिष्य ही बनाते हैं और न किसीकी दी हुई कोई वस्तु ही लेते हैं। मुझको भी उन्होंने किसी भी वस्तुको स्वीकार न करनेकी आज्ञा दे रखी है। इसलिये मैं किसीकी दी हुई कोई वस्तु नहीं ले सकती। इसको आप वापस ले जाइये।' विद्यार्थीने कहा—'आप जैसा कहती हैं, वैसा ही मैं भी मानता हूँ। वे किसीको भी शिष्य नहीं बनाते, यह बात भी सही है। मुझको छोड़कर उन्होंने न तो किसीको शिष्य बनाया है और न बनावेंगे ही। मुझपर उनकी विशेष कृपा है, इसीसे मुझको उन्होंने शिष्य माना है। केवल मैं एक ही उनका शिष्य हूँ, इसके लिये मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ।' ब्राह्मणपत्नीने कहा—'मैंने तो यह बात कभी नहीं सुनी कि उन्होंने आपको शिष्य बनाया है। मैं तो जानती हूँ कि उन्होंने किसीको शिष्य बनाया ही नहीं है। फिर मैं इस बातको कैसे मान लूँ कि आप उनके शिष्य हैं। जो भी कुछ हो, मैं इस मिठाईको किसी हालतमें भी स्वीकार नहीं कर सकती। पण्डितजीके लौटनेपर आप उन्हें दे सकते हैं।' विद्यार्थीने कहा—'अच्छा, यह थाली यहाँ रखी है और मेरा घोड़ा भी यहीं बँधा है। मैं लौटकर पण्डितजीसे मिल लूँगा।' इसपर ब्राह्मणपत्नीने उत्तर दिया—'आप इस थालीको वापस ले जाइये, पण्डितजीके आनेपर आप फिर ला सकते हैं। मैं पण्डितजीकी आज्ञाके बिना इसको किसी भी हालतमें नहीं रख सकती।' किंतु भगवान् तो विचित्र ठहरे। वे थालीको वहीं छोड़कर चल दिये। चलते समय ब्राह्मणपत्नीने पूछा—'अपना नाम-पता तो बतला दीजिये, जिससे पण्डितजीके आनेपर यह मिठाईकी थाली आपके घर वापस पहुँचा दी जाय।' विद्यार्थीने कहा—'वे मुझे जानते हैं। उनकी मुझपर अत्यन्त कृपा है; क्योंकि मैं उनका एक ही शिष्य हूँ। मेरे सिवा दूसरा कोई शिष्य है ही नहीं। आप कह दीजियेगा कि आज प्रातःकाल जिसके मुँहपर आपने हरताल पोती थी, वही शिष्य आया था। इससे वे समझ जायँगे।' इतना कहकर भगवान् चलते बने।

एक घंटेके बाद पण्डितजी जंगलसे वापस लौटे और घरमें प्रवेश करते ही देखा कि एक थाली मिठाईसे भरी रखी है। पण्डितजीने कुछ उत्तेजित-से होकर पूछा—'यह मिठाई कहाँसे आयी, किसने दी और क्यों रखी गयी ?' ब्राह्मणपत्नीने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक उत्तर दिया—'स्वामिन्! मैंने नहीं रखी है। एक विद्यार्थी जबरन् इसे रख गया। वह कहता था कि मैं गुरुजीकी सेवाके लिये लाया हूँ। इसपर भी मैंने स्वीकार नहीं किया। परंतु वह जबरन् छोड़कर चला ही गया।' ब्राह्मणने कहा—'तुम तो इस बातको जानती हो कि मैंने न तो आजतक किसीको शिष्य बनाया है और न बनाता ही हूँ।' पत्नीने कहा—'यह बात सत्य है। मैंने भी उससे यही कहा कि 'न तो पण्डितजीने किसीको शिष्य बनाया है, न बनाते हैं और न बनावेंगे।' इसपर उसने मेरी बातका समर्थन करते हुए कहा कि 'मैं इस बातको जानता हूँ। गुरुजीने मुझको छोड़कर किसीको शिष्य नहीं बनाया और न बनावेंगे। एकमात्र मैं ही उनका शिष्य हूँ। मुझपर उनकी विशेष दया है। इसीलिये मुझको उन्होंने शिष्य स्वीकार किया है। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि यह मेरी बात सच्ची माननी चाहिये।' इसपर भी मैंने तो यही कहा कि 'मैंने यह कभी नहीं सुना कि आपको उन्होंने शिष्य बनाया है। जो भी हो, मैं उनकी आज्ञाके बिना यह भेंट नहीं रख सकती; परंतु वह रखकर चल दिया।' पण्डितजीने कहा—'उसका नाम-पता तो पूछना चाहिये था, जिससे उसके घर चीज वापस लौटा दी जाती।' ब्राह्मणपत्नीने कहा—'मैंने पूछा था, तब उसने यह कहा है कि मुझको गुरुजी जानते हैं। आज प्रातःकाल ही उन्होंने मेरे मुँहपर हरताल पोती है, मुझे इतनी ही देरमें वे थोड़े ही भूल जायँगे। आप कह दीजियेगा कि जिसके मुँहपर आज प्रातःकाल हरताल पोती थी, वही आपका एकमात्र शिष्य भेंट दे गया है। बस, इतना कहकर वह चला गया और कह गया कि मिठाईकी थाली यहीं रखी है, मेरा घोड़ा भी यहीं बँधा हुआ है। मैं फिर आकर गुरुजीसे मिल लूँगा।'

यह सुनते ही पण्डितजीके रोमाञ्च हो आया और वे गद्गद होकर बोले—'ब्राह्मणी ! तुम धन्य हो। वे तो साक्षात् भगवान् थे। तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है, जो तुमको उनके साक्षात् दर्शन हुए। मैं अविश्वासी और हतभाग्य हूँ, इसीलिये मुझको उन्होंने दर्शन नहीं दिये। मैंने एक दिन भी भूख नहीं निकाली और अधीर होकर भगवान्के वचनोंपर हरताल पोत दी। गीता स्वयं भगवान्के मुखसे निकली हुई है, उसपर हरताल पोतना सचमुच भगवान्के मुखपर ही हरताल लगाना है। आज गीताका पाठ करते समय जब यह श्लोक आया कि—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(९। २२)

—तब मुझ अविश्वासीके मनमें भगवान्के वचनोंपर शङ्का हो गयी कि यदि सचमुच ये भगवान्के वाक्य होते तो वे निश्चय ही मेरा योगक्षेम वहन करते; यह क्षेपक है। ऐसा सोचकर मैंने उसपर हरताल पोत दी। मैं बड़ा ही नीच, पापी और अविश्वासी हूँ। मेरे हृदयमें यदि तनिक भी धैर्य होता तो मैं ऐसा नीच कार्य कभी नहीं करता। वे परम दयालु भगवान् तो सदा योगक्षेम चला ही रहे हैं। सब कुछ समाप्त होनेके साथ ही आ ही पहुँचे। हरताल लगानेके अपराधके कारण मैं उनके दर्शनोंसे वञ्चित रहा। तुम शुद्ध और अनन्यभक्त तथा पतिव्रता हो। इसलिये तुम्हें दर्शन दे गये। अब तो जबतक वे नहीं आते तबतक मुझे चैन नहीं।' इसके बाद उनकी दृष्टि बाहरकी ओर गयी तो क्या देखते हैं कि घोड़ेपर भार लदा हुआ है। उन्होंने तुरंत जाकर भार उतारा और उसे अंदर लाकर देखने लगे। उसमें लाखों रुपयोंके रत्न भरे थे। ब्राह्मण यह देखकर अपने कृत्यपर पश्चात्ताप करने लगे। वे पुनः गद्गद हो गये और प्रेममें तन्मय होकर भागवतका यह श्लोक गाने लगे—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।

लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥*
(३।२।२३)

'मुझे धिक्कार है कि ऐसे दीनबन्धु पतितपावन सबका धारण-पोषण करनेवाले विश्वम्भर प्रभुपर मैंने झूठा दोष लगाकर अपनेको कलङ्कित किया। मैं तो अर्थका दास हूँ। यदि सचमुच मैं प्रभुका दास होता तो मुझे भोजना-च्छादनकी चिन्ता ही क्यों होती और क्यों भगवान् मुझे संतुष्ट करनेके लिये यह रत्न-राशि दे जाते! मैं वास्तवमें यदि भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जानता, मेरा उनमें सच्चा प्रेम होता और मेरे मनमें अर्थकी कामना न होती तो वे मुझे ये रत्न देकर क्यों भुलाते।' यों कहते-कहते ब्राह्मण आनन्दमुग्ध हो गये।

बहुत देर होते देखकर ब्राह्मणीने कहा—'भगवान्‌का दिया हुआ प्रसाद तो पा लें।' पण्डितजी बोले—'जब भगवान् यह कह गये हैं कि हम आवेंगे तो अब तो उनके आनेपर ही प्रसाद पाऊँगा।' सायङ्काल हो गया, पर भगवान् नहीं आये। तब ब्राह्मणीने फिर कहा—'अब तो प्रसाद पा लें।' पण्डितजी कब माननेवाले थे, उन्होंने फिर वही बात कह दी। जब रात्रिके दस बज गये, शयनका समय हो गया और भगवान् नहीं आये, तब ब्राह्मणीने पुनः विनयपूर्वक कहा—'प्रसाद तो पा लीजिये।' ब्राह्मण देवताने फिर भी प्रसाद नहीं पाया और दोनों बिना कुछ खाये ही सो गये।

रातके ग्यारह बजे थे। दरवाजा खटखटाते हुए किसीने बड़े ही मधुर स्वरोंमें पुकारा—'गुरुआनीजी! गुरुआनीजी! दरवाजा खोलिये।' ब्राह्मण-दम्पतिको अभी नींद तो आयी ही नहीं थी। सुमधुर स्वर तथा गुरुआनीजी

---

* आश्चर्यकी बात है कि पापिनी पूतनाने जिस श्रीकृष्णको मारनेकी इच्छासे उन्हें स्तनोंमें लगाया हुआ हलाहल विष पिलाया था, वह भी माताके योग्य उत्तम गतिको प्राप्त हुई; फिर उन भगवान्‌को छोड़कर हम और किस दयालुकी शरणमें जायँ?

सम्बोधन सुनकर ब्राह्मणी चौंक पड़ी और आनन्दविह्वल होकर बोली— 'स्वामिन्! लीजिये, आपके भगवान् आ गये हैं।' ब्राह्मणने तुरंत दौड़कर दरवाजा खोला और वे भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्‌ने उनको उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया। उस समय पण्डितजीकी बड़ी विचित्र दशा थी। उनका शरीर रोमाञ्चित था, नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी, हृदय प्रफुल्लित था और वाणी गद्गद थी। फिर भी वे किसी तरह धीरज धरकर बोले—'नाथ! मैं तो एक अर्थका दास हूँ। मुझ-जैसे पामरपर भी जो आपने इतनी कृपा की, इसमें आपका परम कृपालु स्वभाव ही हेतु है। यदि मेरे भाव और आचरणोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो आपके दर्शन तो दूर रहे, मुझे कहीं नरकमें भी ठौर नहीं मिलनी चाहिये। मैंने आप-जैसे सर्वथा निर्दोष महापुरुषपर दोष लगाया। मुझ-जैसा अर्थकामी नीच कोई शायद ही होगा। मैं तो अर्थके लिये ही आपको भजता था, तभी तो आपने मेरे सन्तोषके लिये ये रत्न दिये हैं। मैं बड़ा भारी सकामी हूँ, इसीलिये तो मैंने आपको सांसारिक योगक्षेम चलानेवाला ही समझा; नहीं तो मैं पारमार्थिक योगक्षेमकी ही कामना करता। और जो निष्कामभावसे केवलमात्र आपपर ही निर्भर हैं, वे तो इस योगक्षेमको भी नहीं चाहते; किंतु आप तो बिना उनके चाहे ही उनका योगक्षेम वहन करते हैं। मुझ-जैसे अभागेमें ऐसी श्रद्धा,प्रेम, विश्वास और निर्भरता कहाँ, जो आप-जैसे महापुरुषके हेतुरहित अनन्य शरण होता।'

भगवान् बोले—'इसमें तुम्हारा कोई दोष ही नहीं है। तुम तो मुझपर ही निर्भर थे। मेरे आनेमें जो विलम्ब हुआ, यह मेरे स्वभावका दोष है। पर अभीतक तुमने भोजन क्यों नहीं किया?' पण्डितजीने कहा—'जब आप कह गये थे कि मैं फिर आकर मिलूँगा तो बिना आपके आये मैं कैसे भोजन करता। आप भोजन कीजिये, उसके बाद हमलोग भी प्रसाद पायेंगे।' भगवान्‌ने कहा—'नहीं-नहीं, चलो, हमलोग एक साथ ही भोजन करें।' फिर ब्राह्मणपत्नीने भगवान्‌का संकेत पाकर दोनोंको भोजन कराया। ब्राह्मण देवताने

****

अत्यन्त प्रेम-विह्वल होकर प्रसाद पाया। भोजनके बाद भगवान् बोले—'तुम्हारी जो इच्छा हो माँग लो, तुम्हारे लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है।' ब्राह्मणने कहा—'जब आप स्वयं ही पधार गये तो अब माँगना बाकी ही रहा क्या? नाथ! मैं तो यही चाहता हूँ कि अब तो मेरे मनमें योगक्षेमकी भी इच्छा न रहे और केवल आपमें ही मेरा अनन्य विशुद्ध प्रेम हो।' भगवान् 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये। इसके बाद ब्राह्मणपत्नीने भी प्रसाद पाया।

इधर, जबसे उन छोटे भाइयोंने अपने ज्येष्ठ भ्राता भगवद्भक्त ब्राह्मणको अलग कर दिया था, तबसे वे उत्तरोत्तर नितान्त दरिद्री और दुःखी होते चले गये। उनकी इतनी हीन दशा हो गयी कि न तो उनको कहींसे कुछ उधार ही मिलता था और न माँगनेपर ही। जब उन्होंने सुना कि हमारे भाई इतने धनी हो गये हैं कि उनके द्वारपर सदा याचकोंकी भीड़ लगी रहती है तो वे भी अपने भाईके पास गये। परम भक्त पण्डितजीने भाइयोंको आये देखकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और उनकी कुशल-क्षेम पूछी। उन्होंने उत्तरमें कहा—'आप-जैसे सज्जन पुरुषोंसे अलग होकर हमें कुशल कहाँ? हम तो मुँह दिखाने लायक भी नहीं हैं। फिर भी आप हमलोगोंपर दया करके प्रेमसे मिलते हैं, यह आपका सौहार्द है।' बड़े भाईने कहा—'नहीं-नहीं भैया! ऐसा मत कहो। हम तीनों सहोदर भाई हैं। हमलोग कभी अलग थोड़े ही हो सकते हैं। यह तो एक होनहार थी। हमलोग जैसे प्रेमसे पहले रहा करते थे, अब भी हमें वैसे ही रहना चाहिये।' संसारमें सहोदर भाईके समान अपना हितैषी और प्रेमी कौन है? तुमलोगोंको लज्जा या पश्चात्ताप न करके पूर्ववत् ही प्रेम करना चाहिये। यह जो कुछ तुम ऐश्वर्य देखते हो, इसमें भैया! मेरा क्या है। यह सब श्रीभगवान्‌की विभूति है। जो कोई भी भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है, भगवान् सब प्रकारसे उसका योगक्षेम वहन करते हैं। जैसे बालक माता-पितापर निर्भर होकर निश्चिन्त विचरता है और माता-पिता ही सब प्रकारसे उसका पालन-पोषण करते हैं, उसी प्रकार, नहीं-नहीं, उससे भी

बढ़कर भगवान् अपने आश्रितका पालन-पोषण और संरक्षण करते हैं। य
क्या, वे तो अपने-आपको ही उसके समर्पण कर देते हैं। अ
तुमलोगोंको—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २

—इस श्लोकमें कही हुई बातपर विश्वास करके नित्य-निरन्तर भगवान्
ही चिन्तन करना चाहिये तथा अर्थ और भावको समझकर नित्य श्रीगीता
अध्ययनाध्यापन करना चाहिये।

इसके बाद वे दोनों भाई बड़े भाईके साथ रहकर उनकी आज्ञाके अनुस
नित्य-निरन्तर जप-ध्यान तथा गीताका पाठ करने लगे एवं थोड़े ही समय
भगवान्‌की भक्ति करके भगवत्कृपासे भगवान्‌को प्राप्त हो गये।

यह कहानी कहाँतक सच्ची है, इसका पता नहीं है; किंतु हमें इससे य
शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि भगवान्‌पर निर्भर होनेपर भगवान् योगक्षेम
वहन करते हैं। अतः हम भी इसपर विश्वास करके भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ
सबसे उत्तम बात तो यह है कि नित्य-निरन्तर भगवान्‌का निष्कामभाव
चिन्तन करना चाहिये। योगक्षेमकी भी इच्छा न करके भगवान्‌में केव
अहैतुक विशुद्ध प्रेम हो, इसीके लिये प्रयत्न करना चाहिये। किंतु य
योगक्षेमकी ही इच्छा हो तो सच्चे—पारमार्थिक योगक्षेमकी इच्छा कर
चाहिये। अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्तिकी रक्षाका नाम 'क्षे
है। पारमार्थिक योगक्षेमका अभिप्राय यह है कि परमात्माकी प्राप्तिके मार्ग
जहाँतक हम आगे बढ़ चुके हैं, उस प्राप्त साधन-सम्पत्तिकी तो भगवान् र
करते हैं और भगवान्‌की प्राप्तिमें जो कुछ कमी है, उसकी भी पूर्ति भगव
कर देते हैं। ऐसा भगवान्ने आश्वासन दिया है। इस प्रकार समझकर औ
इसपर विश्वास करके भगवान्‌पर निर्भर एवं निर्भय हो जायँ; भगवच्चिन्तन

****

सिवा और कुछ भी चिन्ता न करें।

जो लोग सांसारिक योगक्षेमके लिये भगवान्को भजते हैं, वे भी न भजनेवालोंकी अपेक्षा बहुत उत्तम हैं; क्योंकि भगवान्ने अर्थार्थी, आर्त आदि भक्तोंको भी उदार—श्रेष्ठ बतलाया है **'उदाराः सर्व एवैते'** (गीता ७। १८); और ज्ञानी निष्काम अनन्य भक्तको तो अपना स्वरूप ही बतलाया है; क्योंकि उस निष्कामी ज्ञानीके एक भगवान्के सिवा अन्य कोई गति है ही नहीं।

अतः हमको उचित है कि हम भगवान्के निष्काम ज्ञानी अनन्य भक्त बनें, क्योंकि ऐसा भक्त भगवान्को अत्यन्त प्रिय है। भगवान्ने कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

'उन भक्तोंमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य-प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

भगवन्नामका मूल्य

'गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने मानसमें भगवन्नाम-महिमाका उल्ले करते हुए यहाँतक कहा है कि कलियुगमें केवल भगवान्‌के नामका ही आ है। गणिका और अजामिल-सदृश बड़े-से-बड़े पापी केवल नामके प्रभा सहजमें ही मुक्त हो गये। श्रीहनुमान्‌जीने इसी नामके प्रभावसे भग श्रीरामको अपने वशमें कर रखा है। नामको जीभपर रखनेमात्रसे बाहर भीतर प्रकाश छा जाता है। नामकी महिमा इतनी अधिक है कि स्वयं भग भी उसका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं—'**राम न सकहिं नाम गुन गा** यहाँतक कि भगवान् शिव इस नामकी शक्तिसे ही काशीमें समस्त जीवे मुक्ति प्रदान किया करते हैं। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि अ शास्त्र भी नाम-महिमासे भरे पड़े हैं; परंतु क्या कारण है कि इसके अनु नामका प्रत्यक्ष परिणाम देखनेमें नहीं आता ?'

इस प्रकारके तर्क उपस्थित करते हुए कई महानुभाव प्रश्न किया क हैं। इन सबका उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष फल न दीखनेका कारण भगवा नाममें श्रद्धाकी कमी है। वस्तुतः भगवन्नामकी जो महिमा शास्त्रोंने गायी वह उससे कहीं अधिक है। नाम-महिमाकी कोई सीमा ही नहीं है। शा कथित महिमा तो नामसे लाभ प्राप्त किये हुए महात्माओंके उद्गारमात्र हैं। प्रकार ईश्वर और सत्सङ्गकी जितनी महिमा कही जाय, उतनी ही थोड़ी है, प्रकार नामकी महिमाका जितना वर्णन हो, उतना ही थोड़ा है। अस भगवन्नामके तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभाव आदि न जाननेके कारण ही उसके

श्रद्धामें कमी है। श्रद्धाके अभावसे तथा कहीं-कहीं तो श्रद्धासे सर्वथा विपरीत अश्रद्धाके कारण मनुष्यको यथार्थ लाभसे वञ्चित रहना पड़ता है। नामकी तो अमित महिमा है। संसारके किसी भी पदार्थके साथ भगवन्नामकी तुलना नहीं हो सकती। यहाँके जड एवं नाशवान् पदार्थोंको लेकर भगवान्‌के नामको तौलने बैठना तो अपनी अज्ञताका ही परिचय देना है।

भगवन्नामके प्रभावपर एक दृष्टान्त

एक बहुत उच्चकोटिके भगवद्भक्त नामनिष्ठ महात्मा थे। उनके समीप उनका एक शिष्य रहता था। एक समयकी बात है कि वे महात्मा कहीं बाहर गये हुए थे; उसी समय उनकी कुटियापर एक व्यक्ति आया और उसने पूछा—'महात्माजी कहाँ हैं?' शिष्यने कहा—'स्वामीजी महाराज तो किसी विशेष कार्यवश बाहर पधारे हैं। आपको कोई काम हो तो कहिये।' आगन्तुकने कहा—'मेरा लड़का अत्यधिक बीमार है, उसे कैसे आरोग्य लाभ हो? महात्माजीकी अनुपस्थितिमें आप ही कोई उपाय बतानेकी कृपा करें।'

शिष्यने उत्तर दिया—'एक बहुत सरल उपाय है—'राम' नामको तीन बार लिख लें और उसे धोकर पिला दें; बस, इसीसे आराम हो जायगा।'

आगन्तुक अपने घर चला गया। दूसरे दिन वह व्यक्ति बड़ी प्रसन्न मुद्रासे महात्माजीकी कुटियापर आया। उस समय महात्माजी वहाँ उपस्थित थे। उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणिपात करके उसने विनम्र शब्दोंमें हाथ जोड़कर निवेदन किया—'स्वामीजी महाराज! आपके शिष्य तो सिद्ध पुरुष हैं। कलकी बात है, मैं यहाँ आया था; उस समय आप कहीं बाहर पधारे हुए थे, केवल ये आपके शिष्य थे। आपकी अनुपस्थितिमें इन्हींसे मैंने अपने प्रिय पुत्रकी रोग-निवृत्तिके लिये उपाय पूछा। तब इन्होंने बतलाया कि तीन बार 'राम' नाम लिख लो और उसे धोकर पिला दो। मैंने घर जाकर ठीक उसी प्रकार किया और महान् आश्चर्य एवं हर्षकी बात है कि इस प्रयोगके करते ही लड़का तुरंत उठ बैठा, मानो उसे कोई रोग था ही नहीं।'

यह सुनकर महात्मा अपने शिष्यपर बड़े रुष्ट हुए और उसके हितके लि क्रोधका नाट्य करते हुए बोले—'अरे मूर्ख ! इस साधारण-सी बीमा लिये तूने राम-नामका तीन बार प्रयोग करवाया । तू नामकी महिमा तनिक नहीं जानता । अरे, एक बार ही नामका उच्चारण करनेसे अनन्त कोटि पा और भवरोगका नाश हो जाता है और मनुष्य अनामय परमपदको प्रा जाता है । तू इस आश्रममें रहने योग्य नहीं । अतः जहाँ तेरी इच्छा हो, च जा ।' इसपर शिष्यकी आँखोंमें आँसू आ गये और उसने अपने गुरुदेवसे ब अनुनय-विनय की । संत तो नवनीत-हृदय होते ही हैं, ऊपरसे भी पिघल और उसके अपराधको क्षमा कर दिया ।

इसके पश्चात् महात्माजीने चम-चम करता हुआ एक सुन्दर चमकी पत्थर कहींसे निकाला और उसे शिष्यके हाथमें देकर कहा—'तू श जाकर इसकी कीमत करा ला । सावधान ! इसे किसी कीमतपर भी बे नहीं है, केवल कीमतभर अँकवानी है । कौन क्या कीमत आँकता है, लिखकर लौट आना ।'

शिष्य उसे लेकर बाजार चल दिया । सबसे पहले एक साग बेचनेव मालिन मिली । उसने उसे पत्थर निकालकर दिखलाया और पूछा— इसकी अधिक-से-अधिक क्या कीमत दे सकती है ?' साग बेचनेवा पत्थरकी चमक और सुन्दरता देखकर सोचा 'यह बड़ा अच्छा पत्थर बच्चोंके खेलनेके लिये बड़ी सुन्दर वस्तु है ।' वह बोली—'इसकी कीम सेर-डेढ़-सेर मूली, आलू या जो साग तुम्हें पसंद हो, ले सकते हो ।' 'बे नहीं है' कहकर शिष्य आगे बढ़ा तो एक बनियेसे भेंट हुई । उ पूछा—'सेठजी ! इस पत्थरका मूल्य आप क्या दे सकते हैं ?' बनि विचार किया, पत्थर तो बड़ा सुन्दर तथा चमकीला है और खूब वजनदा है । अतः सोना-चाँदी तौलनेमें इसका अच्छा उपयोग हो सकता है । उ कहा—'एक रुपया दे सकता हूँ ।' उसे इन्कार करके शिष्य आगे चल

****

एक सुनारकी दूकानपर पहुँचा। सुनारने देखकर विचार किया कि यह तो बड़े कामकी चीज है। इसे तोड़कर बहुत-से पुखराज बनाये जा सकते हैं। अतः उसने कहा—'अधिक-से-अधिक एक हजार रुपयेतक मैं दे सकता हूँ।'

'बेचना नहीं है' कहकर शिष्य बड़े उत्साहसे अग्रसर हुआ और एक जौहरीकी दूकानपर पहुँचा। पहले गुरुदेवके पाससे चला था, तब तो उसे किसी जौहरीके पास जानेका साहस ही नहीं था; पर ज्यों-ज्यों उस पत्थरके मूल्यमें वृद्धि होती गयी, त्यों-ही-त्यों उसका साहस भी बढ़ता गया। अब उसकी दृष्टि भी बदल गयी। उसकी मान्यता, जो एक साधारण चमकीले पत्थरकी थी, नष्ट हो गयी। जौहरीको दिखलाकर उसकी कीमत पूछी। जौहरीने विचार किया तो उसने उसे हीरा समझा और वह उसके मूल्यमें एक लाख रुपये देनेको तैयार हो गया। परंतु बेचना तो था नहीं। अतः शिष्य उसे भी वही उत्तर देकर उच्चकोटिके जौहरियोंके पास पहुँचा। सबने मिलकर उसकी जाँच की और पाँच करोड़ रुपये उसकी कीमत आँकी। तत्पश्चात् वह शिष्य राजाके पास गया। राजा साहबने शिष्यको बड़े आदरसे बिठलाया और मुख्य-मुख्य सभी बड़े जौहरियोंको बुलाकर उस रत्नका मूल्य आँकनेके लिये कहा। सबने विचार-विमर्शके अनन्तर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'महाराज! हमने तो ऐसा रत्न कभी देखा ही नहीं। इसलिये इसकी कीमत आँकना हमलोगोंकी बुद्धिसे परेकी बात है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि यदि आप अपना सम्पूर्ण राज्य भी दे दें तो वह भी इसके मूल्यमें पर्याप्त नहीं।'

महाराजने शिष्यसे पूछा—'ऐसा अनुपम रत्न तुम्हें कैसे मिला?' शिष्यने उत्तर देते हुए कहा—'इसे मेरे गुरुदेवने मुझे देकर केवल मूल्य अँकवानेके लिये ही भेजा है, पर बेचनेकी आज्ञा नहीं दी है।' राजा साहबने बड़े विनम्र शब्दोंमें कहा—'इसका मूल्य मेरे राज्यसे भी अधिक है। यदि तुम्हारे गुरुजी इसे बेचना चाहें तो इसके बदलेमें मैं अपना सारा राज्य सहर्ष दे सकता

हूँ। तुम पूज्य स्वामीजीसे पूछ लेना।' स्वामीजी उच्चकोटिके महात्मा हैं, बातको सभी जानते थे। अतः सबने बड़े आदर-सत्कारके साथ उस शिष्य वहाँसे विदा किया।

शिष्यने महात्माजीके पास लौटकर सारी कहानी उन्हें सुना दी अन्तमें कहा 'गुरुदेव ! मेरी तुच्छ सम्मति तो यह है कि जब राजा साहब इ मूल्यमें अपना सारा राज्य ही दे रहे हैं, तब तो इसे बेच ही डालना चाहि महात्माजी बोले—'इसके मूल्यमें राज्य भी कोई वस्तु नहीं। अभीतक इ अनुरूप इसकी कीमत नहीं आँकी गयी।' शिष्यने आश्चर्य प्रकट कर कहा—'राज्यसे बढ़कर और कीमत हो ही क्या सकती है ?' महात्मा कहा—'यहाँ कोई लोहेकी बनी वस्तु मिल सकेगी क्या ?' शिष्यने दिया—'जी हाँ, आश्रममें कुछ यात्री आये हुए हैं; उनके पास तवा, चि सँडसी आदि लोहेके पर्याप्त बर्तन हैं। आज्ञा हो तो उनमेंसे कुछ ले आऊँ महात्माजीने कहा—'हाँ, ले आओ।'

शिष्य कई लौह-निर्मित वस्तुएँ ले आया। महात्माजीने ज्यों ही उ पत्थरका स्पर्श कराया, त्यों ही वे सारे लौह-पात्र देखते-ही-देखते शुद्ध सो बन गये। यह देखकर शिष्यको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने चकित हो पूछा—'यह तो बड़ी विलक्षण वस्तु है; यह क्या है, गुरुदेव ?' महात्मा उत्तर दिया—'यह वह स्पर्शमणि (पारस पत्थर) है, जिसके स्पर्शमात्र लोहा सोना बन जाया करता है। भला, अब तू ही बता कि इसकी की कितनी होनी चाहिये।' शिष्य बोला—'संसारमें अधिक-से-अधिक की सोनेकी ठहरायी जाती है और वह कीमत इससे उत्पन्न होती है फिर इ मूल्य कैसे आँका जाय।'

महात्माजी—'भगवन्नामका मूल्य तो इससे भी बढ़कर है। क्योंकि पारस तो जड पदार्थ है; इससे केवल जड पदार्थोंकी ही प्राप्ति हो सकती सच्चिदानन्द परमात्माकी नहीं। अतः किसी भी सांसारिक पदार्थके

भगवान्‌के नामकी तुलना करना सर्वथा अनुचित है। इनकी तुलना करनेवाला पारसको सेर-डेढ़-सेर मूली, आलूके शाकमें बेचनेकी मूर्खता करनेवालेसे कम मूर्ख नहीं। जिस प्रकार पारसको न पहचाननेवाला व्यक्ति उससे तुच्छ पदार्थ लेकर सदा कंगाल बना रहता है, उसी प्रकार राम-नामके महत्त्वको न जाननेवाला भी प्रेम और भक्तिकी दृष्टिसे सदैव दरिद्र ही रहता है। तू भगवन्नामके प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको नहीं जानता, इसीलिये एक साधारण-से रोगके लिये तूने राम-नामका तीन बार प्रयोग करवाया। जिस नामके प्रभावसे भयङ्कर भवरोग मिट जाता है, उसे मामूली रोगनाशके लिये उपयोगमें लाना सर्वथा अज्ञता है। तेरी इस अज्ञताको मिटानेके लिये ही तुझे पारस देकर भेजा था।' यह सुनकर शिष्य भगवन्नामका प्रभाव समझ गया और अपनी भूलके लिये बार-बार क्षमा-याचना करने लगा।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा मिलती है कि पारसके प्रभावसे अनभिज्ञ व्यक्तिको यदि पारस मिल जाय तो वह उसे अज्ञतावश दो-चार रुपयेमें ही बेच सकता है। यदि वे महात्मा शिष्यको ठीक मूल्यपर पारस बेचनेको कह देते तो वह अधिक-से-अधिक पाँच-सात सेर आलू या एक-दो रुपयेमें अवश्य बेच आता और इसे ही वह अधिक मूल्य समझता। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवन्नामके प्रभावको नहीं जानते, वे उसे स्त्री, पुत्र, धन आदिके बदलेमें बेच डालते हैं।

भगवन्नामका रहस्य

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भगवान्‌के नाममें पापोंको नाश करनेकी बड़ी भारी शक्ति है। **'नाम अखिल अघ पुंज नसावन'** यह उक्ति सर्वथा सत्य है; परंतु लोग इसका रहस्य नहीं जाननेके कारण इसका दुरुपयोग कर बैठते हैं। वे सोचते हैं कि नाममें पाप-नाशकी महान् शक्ति है ही; अभी पाप कर लें, फिर नाम लेकर उसे धो डालेंगे। यह सोचकर वे अधिकाधिक पाप-पङ्कमें फँसते ही चले जाते हैं। वे यह नहीं विचारते कि यदि वास्तवमें उनकी यह

मान्यता ठीक हो, तब तो नामका जप पापोंका विनाशक नहीं, प्रत्युत वृ
करनेवाला ही सिद्ध हुआ। क्योंकि फिर तो सभी लोग नामका आश्रय लेक
मनचाहा पाप करने लगेंगे और इससे वर्तमान कालकी अपेक्षा भविष्य
पापोंकी संख्या बहुत अधिक बढ़ जायगी। जिस प्रकार पुलिसकी पोश
पहनकर चोरी करनेवाला अन्य चोरकी अपेक्षा अधिक दण्डनीय होता है, उ
प्रकार भगवन्नामकी ओट लेकर पाप करनेवाला व्यक्ति अधिक दण्डका प
हो जाता है, क्योंकि उसके पाप वज्रलेप हो जाते हैं, बिना भोगे उनका विन
नहीं होता। नामकी आड़ लेकर पाप करना तो नामके दस अपराधोंमेंसे ए
नामापराध है। नामके दस अपराध ये हैं—

सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागो हि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश॥

१—सत्पुरुष—ईश्वरके भजन-ध्यान करनेवालोंकी निन्दा, २-
अश्रद्धालुओंमें नामकी महिमा कहना, ३—विष्णु और शिवके नाम-रूपमें भे
बुद्धि, ४-५-६— वेद-शास्त्र और गुरुके द्वारा कहे हुए नाम-माहात्म्य
अविश्वास, ७—हरिनाममें अर्थवादका भ्रम अर्थात् केवल स्तुतिमात्र है ऐ
मान्यता, ८-९—नामके बलपर विहितका त्याग और निषिद्धका आचरण औ
१०—अन्य धर्मोंसे नामकी तुलना यानी शास्त्रविहित कर्मोंसे नामकी तुलना—
सब भगवान् शिव और विष्णुके नाम-जपमें नामके दस अपराध हैं।'

इन दस अपराधोंसे अपनेको न बचाते हुए जो नामका जप करते हैं,
नामके रहस्यको ही नहीं समझते।

तथा वाणीके द्वारा नाम जपनेकी अपेक्षा मनसे जपना सौगुना अधि
फलदायक है और वह मानसिक जप भी श्रद्धा-प्रेमसे किया जाय तो उस
अनन्त फल है; तथा वही गुप्त और निष्कामभावसे किया जाय तो शीघ्र

परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। अतः इस रहस्यको भलीभाँति समझकर भगवन्नामका आश्रय लेना चाहिये।

भगवन्नामका तत्त्व

असलमें नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है। वे भिन्न होते हुए भी सर्वथा अभिन्न हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—**'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** (१०। २५)। 'सब यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ'—अर्थात् अन्य समस्त यज्ञ तो मेरी प्राप्तिके साधन हैं, पर जपयज्ञ (नाम-जप) तो स्वयं मैं ही हूँ। जो इस तत्त्वको हृदयङ्गम कर लेता है—ठीक-ठीक समझ लेता है, वह नामको कभी भूल नहीं सकता।

भगवन्नामके गुण

जो नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामका जप करता रहता है, वह सद्गुणोंका समुद्र बन जाता है। जिस प्रकार सागरमें अनन्त जल-राशि होती है, उसी प्रकार उसमें अनन्त सद्गुण आ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि नाम बीजकी तरह है। जैसे बीजके बो देनेपर उसमेंसे फूटकर अङ्कुर उत्पन्न होता है एवं वही पुष्पित और पल्लवित होकर, विशाल वृक्ष बन जाता है, वैसे ही नाम जपनेवालेमें अनायास ही सारे सद्गुणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है।

इसके लिये मनुष्यको भगवन्नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझना चाहिये। इस प्रकार समझनेसे ही उसकी नाममें परम श्रद्धा होती है और श्रद्धासहित किया हुआ जप ही तत्काल पूर्ण फल देता है। अतः भगवान्‌के नाममें अतिशय श्रद्धा उत्पन्न हो, इसके लिये हमलोगोंको सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। सत्पुरुषोंका सङ्ग न मिलनेपर हमें सत्-शास्त्रोंका—जिनमें भगवान् और उनके नामके तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभाव, श्रद्धा और प्रेमकी बातें बतायी गयी हों—अनुशीलन करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे भगवन्नाममें श्रद्धा-प्रेम उत्पन्न हो जाता है; और किये हुए जपका फल भी, जिसका शास्त्रोंमें वर्णन है, तत्काल प्रत्यक्ष देखनेमें आ सकता है।

═══ ★ ═══

श्रीमद्भागवतमें विशुद्ध भक्ति

श्रीमद्भागवत अलौकिक ग्रन्थ है। इसमें वर्णाश्रमधर्म, मानवधर्म, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि भगवत्प्राप्तिके सभी साधनोंका बड़ा विशद वर्णन है; परन्तु ध्यानसे देखा जाय तो इसमें भगवान्की भक्तिका ही विशेषरूपसे निरूपण किया गया है। साधन और साध्य दोनों प्रकारकी भक्तिका वर्णन है। ग्रन्थका आदि, मध्य और अन्त भक्तिसे ही ओतप्रोत है। पहले ही स्कन्धमें कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा संप्रसीदति ॥

(१।२।६)

'मनुष्योंका सबसे उत्तम धर्म—परमधर्म वही है, जिससे श्रीहरिमें निष्काम और अव्यभिचारिणी भक्ति हो। भक्तिसे आनन्दस्वरूप भगवान्को प्राप्त करके ही हृदय प्रफुल्लित होता है।'

इसी प्रकार १२ वें स्कन्धके अन्तमें कहा गया है—

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो ॥
नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥

(१३।२२-२३)

'हे देवदेव! हे प्रभो! आप ही हमारे स्वामी हैं। ऐसी कृपा कीजिये जिससे जन्म-जन्ममें आपके चरणकमलोंमें हमारी भक्ति होवे। जिनका नाम-सङ्कीर्तन सारे पापोंका नाश करनेवाला है और जिन्हें किया हुआ प्रणाम

****

समस्त दुःखोंको शान्त कर देता है, उन परमेश्वर श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ।'

भक्तिकी महिमा कहते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे यहाँतक कह दिया है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥
वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
यथाग्निना हेममलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥

(११। १४। २०-२५)

'उद्धव! मेरी बढ़ी हुई भक्ति जिस प्रकार मुझको सहज ही प्राप्त करा सकती है, उस प्रकार न तो योग, न ज्ञान, न धर्म, न वेदोंका स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है। मैं संतोंका प्रिय आत्मा हूँ। एकमात्र श्रद्धासम्पन्न भक्तिसे ही मेरी प्राप्ति सुलभ है। दूसरोंकी तो बात ही क्या, जातिसे

****

चाण्डालादिको भी मेरी भक्ति पवित्र कर देती है। मनुष्योंमें सत्य और दयासे युक्त धर्म हो तथा तपस्यासे युक्त विद्या भी हो, परन्तु मेरी भक्ति न हो तो वे धर्म और विद्या उनके अन्तःकरणको पूर्णरूपसे पवित्र नहीं कर सकते। मेरे प्रेमसे जबतक शरीर पुलकित नहीं हो जाता, हृदय द्रवित नहीं हो उठता, आनन्दके आँसुओंकी झड़ी नहीं लग जाती, तबतक मेरी ऐसी भक्तिके बिना अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो सकता है। भक्तिके आवेशमें जिसकी वाणी गद्गद हो गयी है, चित्त द्रवित हो गया है, जो कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी सङ्कोच छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी नाच उठता है—ऐसा मेरा भक्त स्वयं पवित्र हो इसमें तो कहना ही क्या; वह समस्त लोकोंको पवित्र कर देता है। जिस प्रकार अग्निसे तपाये जानेपर सोना मैलको त्याग देता है और पुनः तपाये जानेपर अपने स्वच्छ स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी मेरे भक्तियोगके द्वारा कर्मवासनासे मुक्त होकर फिर मुझ भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।'

भक्तिसे भगवान् वशमें हो जाते हैं। वे कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(९।४।६३-६६, ६८)

'मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ और अस्वतन्त्रकी तरह हूँ। मेरे साधुहृदय भक्तोंने मेरे हृदयको अपने हाथमें कर रखा है। मैं उन भक्तोंका सदा ही प्यारा हूँ। ब्रह्मन्! अपने भक्तोंका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। उनको और किसीका आश्रय है ही नहीं। इसलिये अपने उन साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर न तो मैं अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्द्धाङ्गिनी विनाशरहिता लक्ष्मीको ही। जो मेरे भक्त अपने स्त्री, पुत्र, घर, कुटुम्बी, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, भला, उन भक्तोंको मैं छोड़नेका विचार भी कैसे कर सकता हूँ। जिस प्रकार सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही अपने हृदयको मुझमें प्रेम-बन्धनसे बाँध रखनेवाले वे समदर्शी साधु पुरुष भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। अधिक क्या कहूँ—वे मेरे प्रेमी साधु पुरुष मेरे हृदय हैं और मैं उन प्रेमी साधुओंका हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता।'

एक जगह तो भगवान्ने यहाँतक कह दिया है—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥

(११। १४। १६)

'मैं उन भक्तोंके पीछे-पीछे सदा इसलिये फिरा करता हूँ कि उनकी चरणरजसे पवित्र हो जाऊँ।'

सचमुच भक्तिकी ऐसी ही महिमा है। भक्ति ऐसी अनुपम वस्तु है कि यह जिसके पास होती है, वह जो कुछ चाहता है, वही उसे मिल जाता है। भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

(११। ५४)

'परन्तु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला

****

मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

भगवान्की प्रेमलक्षणा भक्ति ऐसी ही है। श्रीमद्भागवतमें इसी प्रेमलक्षणा भक्तिका तथा इसे प्राप्त करानेवाली वैधी भक्तिका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है।

श्रीमद्भागवतका दशम स्कन्ध तो भक्तिसे भरपूर है। भगवान्की विविध लीलाओंका अत्यन्त सुमधुर वर्णन होनेसे उसके पढ़ने-सुननेमें बड़ा ही रस आता है। इस दशम स्कन्धमें भगवान्की कुछ ऐसी लीलाओंका वर्णन है जिन्हें पढ़कर अज्ञलोग भगवान्पर लाञ्छन लगानेसे नहीं चूकते। वे कहते हैं भगवान्का तो प्रत्येक कार्य आदर्शरूप है; फिर उनके लिये चोरी, कपट काम, रमण आदिके प्रसङ्ग कैसे आते हैं। वास्तवमें बात ऐसी नहीं है झूठ-कपट और चोरी-जारी आदि दोष तो उन मनुष्योंमें भी नहीं रह सकते जो अनन्य मनसे भगवान्का स्मरण करने लगते हैं। फिर साक्षात् भगवान्में तो ऐसे दोषोंकी कल्पना ही क्योंकर की जा सकती है। भगवान्का तो अवतार ही हुआ था—साधुओंका उद्धार, दुष्टोंके लिये दण्ड-विधान और धर्मकी संस्थापना करनेके लिये। वे ऐसा कोई काम करते ही कैसे जिससे साधुओंके बदले दुष्टोंके दुराचारको प्रोत्साहन मिलता तथा धर्मकी जड़ उखड़ती। भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे घोषणा की है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

(गीता ३। २१-२५)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है। हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है तथा न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ; क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं सङ्करताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ। हे भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोक-संग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

इस प्रकार कहनेवाले स्वयं भगवान् कोई भी ऐसा काम करें, जिससे लोकशिक्षामें बाधा आती हो—यह सम्भव नहीं है। अतएव श्रीमद्भागवतमें जहाँ काम, रमण, रति आदि शब्द आते हैं, वहाँ उनका कुत्सित अर्थ न करके दूसरा ही अर्थ करना चाहिये और वही है भी। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(१०। ९-१०)

****

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर 'रमण' करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मुझे भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यह साधनावस्थाका वर्णन है, यहाँ अभी साधकको भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हुई है। इन श्लोकोंमें भक्तकी उस मानसिक स्थितिका वर्णन है, जिसके फलस्वरूप उसे भगवान्‌की प्राप्ति होगी। यहाँ मानसिक इन्द्रियोंसे ही वह भगवान्‌को देखता, सुनता और रमण करता है। भक्तका यह भगवान्‌में रमण करना कदापि कुत्सित इन्द्रियोंका कार्य नहीं है। यह परम पवित्र मानसिक भाव है। इसी मानसिक भावसे वह भगवान्‌का चिन्तन करता है, उनका संस्पर्श पाता है और उनके साथ भाषण करता है। भागवतमें वर्णित रमण, काम आदि शब्दोंका भी कुछ ऐसा ही तात्पर्य समझना चाहिये। भगवान्‌पर किसी भी कुत्सित क्रियाका आरोप करना तो अपनी कुत्सित वृत्तिका ही परिचय देना है।

यह जो कहा जाता है कि भक्तिके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—इन पाँच भावोंमें माधुर्य ही सबसे श्रेष्ठ है, सो भावविकासकी दृष्टिसे ऐसा कहना भी एक प्रकारसे ठीक ही है; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सभी भक्तोंमें इन सारे भावोंका क्रमशः उत्तरोत्तर प्रादुर्भाव हो या भक्तके कोई-सा भाव किसी दूसरेसे ऊँचा-नीचा हो। अपने-अपने क्षेत्रमें सभी भाव उत्तम हैं और जिस भक्तको जो भाव प्रिय है, उसके लिये ही वही भाव सर्वोत्तम है। श्रीहनुमान्‌जीके लिये दास्यभाव ही सर्वोत्तम है। वे किसी भी दूसरे भावके लिये क्या इस दास्यभावका कभी परित्याग कर सकते हैं? श्रीवसुदेव-देवकी या श्रीनन्द-यशोदाके लिये वात्सल्यभाव ही सर्वप्रधान है। इसी प्रकार अन्य भावोंके लिये भी समझना चाहिये। फिर यह बात तो किसी

****

भी हालतमें न समझनी चाहिये कि 'मधुर' भावका अर्थ लौकिक स्त्री-पुरुषोंकी तरह कामजनित अङ्ग-सङ्ग या कोई कुत्सित क्रिया हो। वह तो परम पवित्र भाव है, जिसमें भक्त अपने भगवान्‌को सर्वथा आत्मनिवेदन करके उन्हींके मधुर चिन्तन, मधुर भाषण और मधुर मिलनमें डूबा रहता है।

श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। वे सारे दोषोंसे सर्वथा रहित समस्त कल्याणमय गुण-गणोंसे सर्वथा सम्पन्न हैं। उनके नाम-गुण-लीला आदिके श्रवण, कथन, मनन और चिन्तनमात्रसे ही मनुष्य परम पवित्र होकर दुर्लभ परम पदको प्राप्त हो जाते हैं; फिर साक्षात् उनमें किसी दोषकी कल्पना ही कैसे हो सकती है ? अतएव भगवान्‌की लीलाओंमें जहाँ कहीं ऐसे प्रसङ्ग या वाक्य आये हैं, वहाँ परम शुद्ध भावमें ही उनका अर्थ लेना चाहिये, कुत्सित भावमें कदापि नहीं। पूर्वापरका प्रसङ्ग न समझमें आये, तो उसे अपनी अल्पबुद्धिके बाहरकी बात समझकर उसकी आलोचनासे हट जाना चाहिये। न तो यही मानना चाहिये कि ये प्रसङ्ग क्षेपक हैं, न उन्हें कोरे आध्यात्मिक रूपक ही समझना चाहिये और न भूलकर भी ऐसी छूट ही देनी चाहिये कि भगवान्‌में ऐसी बातें हों, तो भी क्या हर्ज है। उन्हें श्रद्धाकी दृष्टिसे सर्वथा परम पवित्र समझना चाहिये। परन्तु अपनी बुद्धि काम नहीं देती, उनके स्वरूपको नहीं खोल पाती, इसलिये उनकी आलोचना न करनी चाहिये।

गोपियोंके प्रेमकी भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने श्रीमुखसे प्रशंसा की है। उद्धव आदि मनीषियोंने उसको मुक्तकण्ठसे सराहा है। यदि गोपियाँ वास्तवमें व्यभिचारदुष्टा होतीं तो भगवान् उनकी प्रशंसा कैसे करते और क्यों उद्धवादि ही उनकी चरणरज चाहते? गोपियोंकी भक्ति सर्वथा अव्यभिचारिणी और अहैतुकी थी। उनका भाव पवित्र था और उसीके अनुसार उनकी रासलीला भी पवित्र थी। उनका चलना, बोलना, मिलना, नाचना और गाना—सभी कुछ पवित्र था, आनन्द और प्रेमसे परिपूर्ण था। उसमें किसी कुत्सित भावकी कल्पनाकी भी गुंजाइश नहीं है। भक्तिके साधनसे

काम-क्रोधादि दोषोंकी जड़ उखड़ जाती है। फिर गोपियों-जैसी भक्तिमती स्त्रियोंमें कामादि दोष कैसे रह सकते हैं। उनका 'रास' भगवान्‌के प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप था। वह ऐसा नहीं था, जैसा आजकल लोग धनके लोभसे स्वाँग बना-बनाकर करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें कई जगह प्रसङ्गवश मदिरा, मांस, हिंसा, व्यभिचार, चोरी, असत्यभाषण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहङ्कार, असत्य, कपट आदिके प्रकरण आये हैं। उन्हें न तो सिद्धान्त समझना चाहिये और न अनुकरणीय ही। उन्हें सर्वथा हेय समझकर उनका त्याग ही करना चाहिये। असलमें श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर जो इन दोषों-दुर्गुणों और दुराचारके त्यागका आदेश दिया गया है, उसीका पालन करना चाहिये। अच्छे पुरुषोंमें कहीं किसी दोषकी बात आयी है—जैसे ब्रह्माजीके काम, मोह आदि। तो वहाँ यही समझना चाहिये कि काम, मोहकी प्रबलता दिखलाकर बड़ी सावधानीसे उनका सर्वथा त्याग कर देनेके अभिप्रायसे ही वे बातें लिखी गयी हैं। उन्हें न तो विधि मानना चाहिये और न यही मानना चाहिये कि ब्रह्मादि देवताओं, महात्माओंमें ये दोष रहते हैं। कहीं अपवाद या छूटके रूपमें भी उन्हें स्वीकार न करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें जहाँ-तहाँ काम-व्यभिचारकी निन्दा है, क्रोध और असत्यका विरोध है, चोरी-बरजोरी, हत्या, शिकार और मांस-सेवन आदिका निषेध है—कुछ थोड़े-से उदाहरण देखिये—

यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियमगम्यं वा पुरुषं योषिदभि-
गच्छति तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया सूर्म्या लोहमय्या
पुरुषमालिङ्गयन्ति स्त्रियं च पुरुषरूपया सूर्म्या।

(५। २६। २०)

'इस लोकमें यदि कोई पुरुष परस्त्रीसे अथवा कोई स्त्री परपुरुषसे व्यभिचार करती है तो यमदूत उन्हें 'तप्तसूर्मि' नामक नरकमें ले जाकर कोड़ोंसे

****

पीटते हुए पुरुषको तपाये हुए लोहेकी स्त्री-मूर्तिसे और स्त्रीको तपायी हुई पुरुष-मूर्तिसे आलिङ्गन कराते हैं।'

बलि राजाने कहा है—

'न ह्यसत्यात्परोऽधर्मः'

(८।२०।४)

'असत्यसे बढ़कर कोई अधर्म नहीं है।'

यस्त्विह वै स्तेयेन बलाद् वा हिरण्यरत्नादीनि ब्राह्मणस्य वापहरत्यन्यस्य वानापदि पुरुषस्तममुत्र राजन् यमपुरुषा अयमयैरग्निपिण्डैः सन्दंशैस्त्वचि निष्कुषन्ति।

(५।२६।१९)

'यहाँ जो व्यक्ति चोरी या बरजोरीसे ब्राह्मणके या आपत्तिकालके बिना ही किसी दूसरे पुरुषके सुवर्ण-रत्नादि पदार्थोंका हरण करता है, उसे मरनेपर यमदूत 'सन्दंश' नामक नरकमें ले जाकर तपाये हुए लोहेके गोलोंसे दागते हैं और सँड़सीसे उसकी खाल नोचते हैं।'

स्वयं भगवान्‌ने राजा मुचुकुन्दसे कहा है—

क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः॥

(१०।५१।६३)

'तुमने क्षत्रियवर्णमें शिकार आदिके द्वारा बहुत-से पशुओंकी हत्या की थी; अब एकाग्रचित्तसे मेरी उपासना करते हुए तपस्याके द्वारा उस पापको धो डालो।'

कपिलदेवजी कहते हैं—

अर्थैरापादितैर्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान्।
पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग् यात्यधः स्वयम्॥

(३।३०।१०)

****

'मनुष्य जहाँ-तहाँसे भयङ्कर हिंसा आदिके द्वारा धन बटोरकर स्त्री-पुत्रादिके पालन-पोषणमें लगा रहता है और शेष बचे हुए भागको खाकर पापका फल भोगनेके लिये स्वयं नरकमें जाता है।'

ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून् विशसन्ति तानमुष्मिँल्लोके वैशसे नरके पतितान् निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति।

(५।२६।२५

'जो पाखण्डपूर्वक यज्ञोंमें पशुओंका वध करते हैं, वे निश्चय ही दाम्भिक हैं, उन पतितोंको परलोकमें 'वैशस' नरकमें डालकर वहाँके अधिकारी बहुत पीड़ा देकर काटते हैं।'

देवर्षि नारदजीने मरे पशुओंको आकाशमें दिखलाकर राजा प्राचीनबर्हिसे कहा है—

भो भोः प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे।
संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान् निर्घृणेन सहस्रशः॥
एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव।
सम्परेतमयःकूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः॥

(४।२५।७-८

'प्रजापालक नरेश! देखो-देखो, तुमने यज्ञमें निर्दयताके साथ जिन हजारों पशुओंकी बलि दी है, उन्हें आकाशमें देखो। ये सब तुम्हारे द्वारा दी हुई पीड़ाओंको याद करते हुए तुमसे बदला लेनेके लिये तुम्हारी बाट देख रहे हैं। जब तुम मरकर परलोकमें जाओगे, तब ये अत्यन्त क्रोधमें भरकर तुम्हें अपने लोहेके-से सींगोंसे छेद डालेंगे।'

सभी दोषोंको भागवतमें त्याज्य और महान् अशुभ फलदायक बतलाया गया है। लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इसलिये यहाँ थोड़े ही उदाहरण दिये गये हैं।

****

दूसरी बात यह है कि इतिहासोंमें—कथाओंमें वर्णित सभी बातें आचरणीय नहीं होतीं। शास्त्रोंके विधिवाक्य ही आचरणीय होते हैं। निषेधवाक्य उनसे भी अधिक बलवान् होते हैं। शास्त्रोंमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, व्यभिचारादिके लिये कहीं भी विधि नहीं है—निषेध ही है। कहीं प्रासङ्गिक कोई बात हो तो भी उसे किसी भी अंशमें—किञ्चिन्मात्र भी, कभी किसी प्रकार भी उपादेय या अवलम्बन करने योग्य न मानना चाहिये।

असलमें जहाँ भगवान्‌की भक्ति होती है, वहाँ तो काम-क्रोधादि दोष रह ही नहीं पाते। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥

(६।१२।२२)

'जो मोक्षके स्वामी भगवान् श्रीहरिकी भक्ति करता है, वह तो अमृतके समुद्रमें खेलता है। क्षुद्र गढ़ैयामें भरे हुए मामूली गंदे जलके सदृश किसी भी भोगमें या स्वर्गादिमें उसका मन कभी चलायमान नहीं होता।' जब किसी भी भोगोंकी आसक्ति और कामना ही नहीं होती, तब निषिद्ध कर्म, दुर्गुण, दुराचार तो हो ही कैसे सकते हैं। गोसाईंजीने कहा है—

बसइ भगति मनि जेहि उर माहीं।
खल कामादि निकट नहिं जाहीं॥

अतएव यह निश्चय कर लेना चाहिये कि जो यथार्थमें भक्त, साधु या महापुरुष हैं, उनका हृदय, उनकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टा, उनके उपदेश या भाव, उनके दर्शन और भाषण—सभी पवित्र होते हैं, पवित्र करनेवाले होते हैं। उनके सारे आचरण आदर्श और सब लोगोंके लिये कल्याणकारी होते हैं। यह सोचना चाहिये कि भक्त, संत और महापुरुषोंसे ही यदि जगत्‌को सदाचार और सद्‌गुणोंकी समुचित शिक्षा न मिलेगी तो फिर संसारमें सदाचारका आदर्श कौन होगा। अतएव श्रीमद्भागवतमें आये हुए प्रासङ्गिक

****

काम, रमण, रति आदि शब्दोंका और वैसे प्रकरणोंका यदि कोई पुरुष लौकिक गंदे काम, रमण आदि अर्थ करे तो उसे किसी भी अंशमें न मानना चाहिये। समय बड़ा विकट है। आजकल भक्त या साधुका वेष बनाकर न जाने कितने कपटी लोग अपनी दुर्वासनाओंकी पूर्तिके लिये लोगोंको ठग रहे हैं। ऐसे ही लोग प्रायः सद्ग्रन्थोंके इस प्रकारके प्रकरणोंका और शब्दोंका आश्रय लेकर—उन्हें महापुरुषोंमें अपवाद बतलाकर लोगोंको अपने चंगुलमें फँसाते हैं। संसारके भोले-भाले नर-नारी, जो महापुरुषोंके लक्षण और आचरणोंसे पूर्ण परिचित नहीं हैं, जिन्हें शास्त्रोंमें आये हुए ऐसे प्रकरणों या शब्दोंके अर्थका ठीक-ठीक पता नहीं है, वे लोग उन कामिनी-काञ्चन, इन्द्रियोंके नाना प्रकारके भोग और मान-बड़ाई तथा पूजा-प्रतिष्ठा चाहनेवाले, वाचाल दम्भियोंकी बातोंमें फँस जाते हैं। अतएव सभी भाई-बहिनोंसे निवेदन है कि वे सावधान हो जायँ और जिनके आचरणमें ये बुरी बातें दिखलायी दें अथवा जो शास्त्रोंके प्रमाण दे-देकर दुर्गुण, दुराचार, व्यभिचार, चोरी, कपट और असत्य आदिका समर्थन करें, उनको महात्मा कभी न मानें। यथार्थ श्रेष्ठ पुरुषमें दुर्गुण-दुराचार होते ही नहीं। वे परस्त्री-परद्रव्यकी तो बात ही क्या, शास्त्रानुकूल मान-बड़ाईके प्राप्त होनेपर भी सकुचाते हैं।

इसपर यदि कोई कहे कि इतिहासोंमें ज्ञानी पुरुषोंमें भी काम-क्रोध आदिके उदाहरण मिलते हैं तो इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी पुरुषोंमें काम-क्रोध आदि नहीं होते। वे लोकसंग्रहार्थ नाट्य करते हों तो दूसरी बात है और यदि वास्तवमें काम-क्रोध हों तो शास्त्रके अनुसार उन्हें भगवत्प्राप्त सिद्ध, महात्मा या यथार्थ ज्ञानवान् न मानना चाहिये।

हाँ, पापी और दुराचारी भी भगवान्‌की भक्ति अवश्य कर सकते हैं और भक्तिमें लग जानेपर वे भी परम पवित्र बन सकते हैं।

श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

****

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

भगवान्‌की भक्तिके सभी अधिकारी हैं। कोई किसी भी ज़ातिका हो, उसके अबतक कितने ही नीच आचरण हों, भगवान्‌के शरण होकर उनकी भक्ति करनेसे वह शीघ्र ही पवित्र हो जाता है और अन्तमें पापोंसे सर्वथा मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है।

इन सब बातोंपर ध्यान देकर प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने जीवनको भजनमय बनानेकी चेष्टा करे। भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो—इसके लिये भगवान्‌के नामका जप, उनके गुण-प्रभाव-रहस्य-तत्त्वके ज्ञानसहित उनके स्वरूपका ध्यान और उनकी लीलाओंका श्रवण-कथन-मनन करे। यही मनुष्यका परम कर्तव्य है। जो ऐसा करता है, वह भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे पूर्णमनोरथ हो जाता है और यदि वह कुछ भी नहीं चाहता तो भगवान् अपने-आपको ही उसके अर्पण कर देते हैं।

जीवन थोड़ा है और नाना प्रकारके विघ्नोंसे भरा है। जो समय बीत गया, वह तो गया ही। अब शेष बचे हुए जीवनके प्रत्येक क्षणको भगवान्‌की सेवामें—उनके भजनमें लगा देना चाहिये। इसीमें मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है। भगवत्प्राप्तिरूप परमकल्याणकी प्राप्ति मनुष्य-जीवनमें ही सम्भव है। उसीको प्राप्त करना चाहिये। दूसरे भोग तो और योनियोंमें भी मिल सकते हैं,

****

परन्तु भगवान्‌की प्राप्ति तो इस मनुष्य-जन्ममें ही हो सकती है।

श्रीभगवान् कहते हैं—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।१

'यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका आदि कारण है, (पुण्यवान्‌के लिये) सुलभ और (पापात्माके लिये) अत्यन्त दुर्लभ है (भवसागरसे पार होनेके लिये) सुदृढ़ नौकारूप है। गुरु ही इसके कर्णधार हैं अनुकूल वायुरूप मेरी सहायता पाकर यह पार लग जाती है। (यह सब सुयो पाकर भी) जो पुरुष संसार-समुद्रसे पार नहीं होता, वह आत्मघाती ही है।'

यही बात भगवान् श्रीरघुनाथजीने अपनी प्रजासे कही है—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

कलियुगमें भगवत्प्राप्तिके साधन बहुत सुलभ हैं—भगवान्‌के नाम सङ्कीर्तनसे ही सारा काम बन सकता है। सत्सङ्ग मिल जाय, फिर तो कहना ही क्या है! श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

(१।१८।१३)

'भगवत्सङ्गी अर्थात् नित्य भगवान्के साथ रहनेवाले अनन्य प्रेमी भक्तोंके निमेषमात्रके भी सङ्गके साथ हम स्वर्ग तथा मोक्षकी भी समानता नहीं कर सकते, फिर मनुष्योंके इच्छित पदार्थोंकी तो बात ही क्या है?'

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(१२।३।५१-५२)

'हे राजन्! दोषोंके खजाने कलियुगमें एक ही यह महान् गुण है कि भगवान् श्रीकृष्णके कीर्तनसे ही मनुष्य आसक्तिरहित होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। सत्ययुगमें ध्यानयोगसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंसे और द्वापरमें विधिपूर्वक पूजा-अर्चाके द्वारा भगवान्की आराधना करनेवालेको जो फल मिलता है, वही कलियुगमें केवल श्रीहरिके नाम-सङ्कीर्तनसे ही मिल जाता है।'

अतएव भक्ति-श्रद्धापूर्वक श्रीभगवान्के नाम-गुणोंका जप-कीर्तन, महापुरुषोंका सङ्ग और श्रीमद्भागवत, गीता एवं रामायण जैसे सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करके मनुष्य-जीवनको सफल बनानेकी चेष्टा प्राणपणसे करनी चाहिये।

═══ ★ ═══

गीताकी सर्वप्रियता

कुछ सज्जनोंने गीताके सम्बन्धमें कई प्रश्न किये हैं, उनके जो उत्तर उन्हें दिये गये हैं, वे सर्वोपयोगी होनेसे यहाँ लिखे जाते हैं।

प्रश्न—गीतापर अनेक आचार्योंकी टीकाएँ हैं, उनमेंसे आप किस आचार्यकी टीकाको उत्तम और यथार्थ मानते हैं?

उत्तर—जो भगवत्प्राप्त महापुरुष हैं, उन सभी आचार्योंकी टीकाओंको मैं उत्तम और यथार्थ मानता हूँ।

प्रश्न—आचार्य तो अनेक हुए हैं, उनमें परस्पर बहुत ही मतभेद है, यहाँतक कि आकाश-पातालका अन्तर है। स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजी अद्वैतवादका प्रतिपादन करते हैं तो स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजी विशिष्टाद्वैतका। इसी प्रकार अन्यान्य आचार्य विभिन्न तरहसे प्रतिपादन करते हुए ही टीका लिखते हैं तो सभी टीकाएँ यथार्थ कैसे हो सकती हैं? सत्य तो एक ही हुआ करता है।

उत्तर—तर्ककी दृष्टिसे जैसे आप कहते हैं, वह ठीक है। मान लें कि गीतापर एक सौ टीकाएँ हैं और सभी टीकाएँ एक-दूसरीसे भिन्न हैं तो उनमें प्रत्येक टीका शेष ९९ टीकाओंके विरुद्ध हो जाती है। इस न्यायसे तो इत्थम्भूत एक भी नहीं ठहरती। किन्तु किसी भी आचार्यकी टीकाके अनुसार उसका अनुयायी अच्छी प्रकार अनुष्ठान करे तो उससे उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है—इस न्यायसे सभी टीकाएँ ठीक हैं।

प्रश्न—आप कौन-सी टीकाको सर्वोपरि मानते हैं और किसके अनुयायी हैं ?

उत्तर—मैं तो सभीको उत्तम मानता हूँ और मैं अनुयायी किसी एकका नहीं, सभीका अनुयायी हूँ। क्योंकि मैं प्रायः सभीसे अच्छी बातें करता रहता हूँ और मैंने बहुत-सी टीकाओंसे मदद ली है तथा ले रहा हूँ। सभी हमारे पूज्य हैं, अतः मैं सभीको आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ एवं किसी भी आचार्यकी की हुई टीकाके अनुसार अनुष्ठान करनेसे परमात्माकी प्राप्ति मानता हूँ। किन्तु टीकाओंकी अपेक्षा मूलको ही सर्वोत्तम मानता हूँ; क्योंकि कोई भी आचार्य मूलका विरोध नहीं करते, बल्कि भगवद्वाक्य होनेसे सब मूलका ही आदर और प्रशंसा करते हैं तथा मूलको आधार मानकर ही सब चलते हैं एवं उसीके अनुसार अन्य सभीको वे चलाना चाहते हैं। इसलिये आचार्योंकी टीकाओंकी अपेक्षा मूल ही सर्वोत्तम है।

प्रश्न—स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजी गीताका अद्वैतपरक अर्थ करते हैं और भक्तिमार्गवाले द्वैतपरक तथा कर्ममार्गवाले कर्मयोगपरक, तो गीताका प्रतिपाद्य विषय ज्ञानयोग है या भक्तियोग अथवा कर्मयोग? एवं वे ऐसी खींचातानी करके प्रतिपादन ही करते हैं या उनकी ऐसी ही मान्यता है?

उत्तर—उनकी अपनी-अपनी खींचातानी बतलाना तो उनकी नीयतपर दोष लगाना है सो ऐसा कहना उचित नहीं। उनको गीताका जो अर्थ प्रतीत हुआ, वैसा ही उन्होंने लिखा है। यह गीताके लिये गौरव है कि सभी मत-मतान्तरवाले उसे अपनाते हैं। गीता ऐसा ही रहस्यमय ग्रन्थ है जो कि सभीको अपने ही भाव उसमें ओतप्रोत दीखते हैं; क्योंकि वास्तवमें गीतामें ज्ञानयोग (अद्वैतवाद), भक्तियोग (द्वैतवाद) और कर्मयोग (निष्काम कर्म)—सभीका साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन किया गया है।

प्रश्न—सभी भगवत्प्राप्त पुरुषोंकी प्रापणीय वस्तु, गीतावक्ता तथा गीताग्रन्थके एक होनेपर भी भगवत्प्राप्त आचार्योंको गीताके अर्थकी प्रतीति भिन्न-भिन्न होनेमें क्या कारण है?

उत्तर—सबकी प्रापणीय वस्तु एक होनेपर भी सबके पूर्वके संस्कार,

सङ्ग, साधन, स्वभाव और बुद्धि भिन्न-भिन्न होनेके कारण उनके कहने समझानेकी शैली और पद्धति भिन्न-भिन्न हुआ करती है। तथा भगवान्‌को जिस समय जिस पुरुषके द्वारा जैसे भावोंका प्रचार कराना होता है, वही भाव उस आचार्यके हृदयमें उस समय प्रकट हो जाते हैं और उन्हें गीताका अर्थ और भाव वैसे ही प्रतीत होने लग जाता है।

प्रश्न—जब सबका कहना भिन्न-भिन्न है तो सभीका कथन यथार्थ कैसे हो सकता है?

उत्तर—एक दृष्टिसे सभीका कथन यथार्थ है और दूसरी दृष्टिसे किसीका कहना भी यथार्थ नहीं। भगवत्प्राप्तिरूप अन्तिम परिणाम सबका एक होनेपर भी सबका कथन अलग-अलग हो सकता है। जैसे द्वितीयाके चन्द्रमाका दर्शन करनेवाले व्यक्तियोंमेंसे कोई एक तो ऐसा बतलाते हैं कि चन्द्रमा उस वृक्षकी टहनीसे ठीक एक बित्ता ऊपर है। दूसरा व्यक्ति कहता है कि चन्द्रमा इस मकानके कोनेसे सटा हुआ है। तीसरा आदमी खड़ियामिट्टीसे लकीर खींचकर बतलाता है कि ऐसी ही आकृतिका चन्द्रमा है और उस उड़ते हुए पक्षीके दोनों पंजोंके ठीक बीचमें दीख रहा है। और चौथा व्यक्ति सिरकीके आकारका बतलाता हुआ इस प्रकार संकेत करता है कि चन्द्रमा मेरी अँगुलीके ठीक सामने दीख रहा है। जैसे इन सभी व्यक्तियोंका लक्ष्य चन्द्रमाका दर्शन करानेका है और वे अपनी शुभ नीयतसे ही अपनी-अपनी प्रक्रिया बतलाते हैं; पर एक-दूसरेके कथनमें परस्पर आकाश-पातालका अन्तर है। इसी प्रकार सभी आचार्योंका उद्देश्य एक है, सभी साधकोंको भगवत्प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे कहते हैं; परन्तु उनके कथनमें परस्पर अत्यन्त भेद है। हाँ, अन्तिम परिणाम सबका एक होनेसे सभीका कहना ठीक है अर्थात् किसी भी आचार्यके कथनानुसार चलनेसे वास्तविक परमात्मप्राप्ति हो जाती है, इस न्यायसे सभीका कहना यथार्थ है। किंतु शब्दोंका अर्थ लगाकर तर्क करें तो किसीका भी कहना ठीक नहीं ठहरता।

****

क्योंकि वास्तवमें चन्द्रमा न तो वृक्षसे एक बित्ता ऊँचा है, न मकानसे ही सटा हुआ है, न पक्षीके पंजोंके बीचमें ही है और न अँगुलीके ठीक सामने ही है तथा न चन्द्रमाकी आकृति ही उन लोगोंके कहनेके अनुसार ही है। शब्दोंपर तर्क करनेसे तो कोई-सी भी बात कायम रह नहीं सकती।

प्रश्न—भगवद्वाक्यरूप गीताके मूलपर श्रद्धा रखनेवाला व्यक्ति गीताका यथार्थ अर्थ जानना चाहता है; किन्तु वह अनेकों टीकाओंको पढ़नेसे संशय-भ्रममें पड़ जाता है तो उसे यथार्थतः गीताका ज्ञान हो, इसके लिये वह क्या उपाय करे ?

उत्तर—जो भगवद्वाक्योंको इत्थम्भूत मानकर उनके अनुसार अपना जीवन बनानेके उद्देश्यसे भगवान्‌के ऊपर निर्भर होकर अपनी बुद्धिके अनुसार विशुद्ध नीयतसे मूल शब्दोंके अर्थका खयाल रखता हुआ उनमें प्रवेश होकर उनका स्वाध्याय और अनुशीलन करता रहता है तो भगवत्कृपासे उसके संशय-भ्रम आदि सबका नाश होकर गीताका इत्थम्भूत यथार्थ ज्ञान उसे स्वयमेव हो जाता है।

प्रश्न—जो भगवत्प्राप्त पुरुष नहीं हैं, ऐसे पुरुषोंके द्वारा भी गीतापर बहुत-सी टीकाएँ देखनेमें आती हैं, उन टीकाओंका अनुशीलन करके तदनुसार साधन करनेसे भी भगवत्-प्राप्ति हो सकती है क्या?

उत्तर—जो गीताको इष्ट मानकर भगवद्वाक्योंको यथार्थ समझता हुआ अपना जीवन गीतामय बनानेके लिये गीतापर निर्भर होकर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक अर्थसहित मूलका अथवा केवल टीकाओंका अनुशीलन करता रहता है, उसको गीता स्वयं उन टीकाओंके द्वारा हुई भ्रमित धारणाका निवारण करके यथार्थ बोध करा देती है।

प्रश्न—भगवत्प्राप्त महापुरुषकी ही यह टीका है अथवा किसी साधारण पुरुषकी की हुई है, इसका निर्णय कैसे हो?

उत्तर—जिस टीकाके अध्ययनसे परमात्माकी स्मृति हो, हृदयमें परमात्मा

****

और गीतापर श्रद्धा-प्रेम बढ़े, सद्गुण-सद्भावोंकी जागृति हो और उस टीका ओर आकर्षण हो, उसी टीकाको भगवत्प्राप्त महापुरुषके द्वारा की हुई मान चाहिये।

प्रश्न—सभी मत-मतान्तरवाले, सभी सम्प्रदायके लोग गीताको अपना हैं और उनको अपने ही भाव उसमें दीखते हैं तो भगवान्‌ने भविष्यमें होनेवा उन सब भावोंको ध्यानमें रखकर ही उस समय गीता कही थी क्या?

उत्तर—भगवान् भूत, भविष्य और वर्तमानमें होनेवाले सर्व भूतों सभी भावोंको तो जानते ही हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(७। २६

'हे अर्जुन! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवा सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष न जानता।'

इसलिये भगवान्‌ने उन सब भावोंका ध्यान रखकर ही यदि गीता क हो तो भी कोई असम्भव बात नहीं है। तथा गीताका सिद्धान्त ही ऐसा अलौकि और यथार्थ है कि अच्छी नीयतसे त्यागपूर्वक प्रचार करनेवाले आचार्यों हृदयमें स्वाभाविक गीताके ही यथार्थ भाव उत्पन्न हुआ करते हैं। इसलि श्रद्धा और प्रेमसे देखनेपर उनको अपने-अपने भावोंके अनुसार ही गी प्रतीत होने लगती है।

प्रश्न—गीतामें ऐसी क्या विलक्षण वस्तु है जिससे सनातनधर्म अतिरिक्त दूसरे मतको माननेवाले भी गीताकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं?

उत्तर—गीतामें किसी व्यक्तिकी या किसी मतकी निन्दा नहीं की गयी जो बात कही गयी वह युक्तियुक्त और न्यायसंगत कही गयी है। अच्छे-बु आदमीका निर्णय भाव और आचरणोंसे किया गया है, किसी जाति या बाह

चिह्नविशेषसे नहीं। मनुष्यमात्रका आत्म-कल्याणमें अधिकार बतलाया गया है, सर्वप्रिय समताको ही विशेषता दी गयी एवं समताको ही साधक और सिद्धकी कसौटी माना गया है। अथ च गीताके सुनने-समझनेसे भी शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है, फिर उसके अनुसार अनुष्ठान करनेवालेकी तो बात ही क्या है। गीताका भाषा, भाव, अर्थ, ज्ञान, उसकी पद्यरचना और उसका गायन बहुत ही सुमधुर, सुन्दर, सुगम और सुरुचिकर है। इसलिये सभी वर्गके लोग उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न—गीताका पाठ करना उत्तम है या उसे गाना एवं अर्थ समझना उत्तम है या उसका भाव समझना ?

उत्तर—पाठ करनेकी अपेक्षा प्रेमपूर्वक मधुर स्वरसे गायन करना उत्तम है। गायनके साथ-साथ अर्थका ज्ञान रहे तो वह और भी उत्तम है। गीताके भावोंको हृदयमें धारण करना उससे भी उत्तम है एवं उन भावोंके अनुसार अपना जीवन बनाना सर्वोत्तम है।

प्रश्न—गीतामें प्रथम कर्म, फिर उपासना और तदनन्तर ज्ञानके साधनसे मुक्ति होती है—इस प्रकार साधनकी प्रणाली है अथवा कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग— ये तीनों स्वतन्त्र मुक्तिदायक हैं ?

उत्तर—प्रथम कर्म, फिर उपासना और उसके बाद ज्ञानके साधनसे मुक्ति होती है—यह क्रम भी है और इसके अतिरिक्त परस्पर स्वतन्त्र केवल कर्मयोगसे, केवल भक्तियोगसे अथवा केवल ज्ञानयोगसे भी मुक्ति बतलायी गयी है। जैसे—

> **ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।**
> **अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥**
>
> (गीता १३। २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही

कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

यदि कहें कि बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती—(ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः) ठीक ही है; किन्तु निष्कामकर्मसे अन्तःकरण शुद्ध होकर साधक अपने-आप तत्त्वज्ञान हो जाता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(गीता ४।३

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनु अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

इसी प्रकार भेदोपासनासे भी भगवत्कृपाद्वारा तत्त्वज्ञान हो जाता है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०।९-१

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवा भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गु और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मु वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हु और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिस वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। और हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लि उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकार

****

प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

इसी प्रकार ज्ञानयोगके साधनसे भी तत्त्वज्ञान हो जाता है तथा ज्ञान होनेपर मुक्ति अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो ही जाती है।

प्रश्न—कर्मयोगके साथ भक्तियोग और ज्ञानयोग, भक्तियोगके साथ कर्मयोग और ज्ञानयोग तथा ज्ञानयोगके साथ कर्मयोग और भक्तियोग एक साथ रह सकते हैं या नहीं ?

उत्तर—कर्मयोगके साथ भक्तियोग और परमात्माके स्वरूपका ज्ञान रह सकता है; किंतु अभेदोपासनारूप ज्ञानयोग उसके साथ एक कालमें नहीं रह सकता; क्योंकि कर्मयोगमें भेद-बुद्धि और संसारकी सत्ता रहती है तथा ज्ञानयोगमें इससे विपरीत अभेदबुद्धि और संसारका अभाव रहता है। इसलिये कर्मयोग और ज्ञानयोग परस्परविरुद्ध भावयुक्त साधन होनेसे एक कालमें एक साथ नहीं रह सकते।

भक्तियोग (भेदोपासना)के साथ कर्मयोग और परमात्माके स्वरूपका ज्ञान रह सकता है; किंतु अभेदोपासनारूप ज्ञानयोग नहीं रह सकता; क्योंकि एक ही पुरुषके द्वारा एक कालमें परस्पर-विरुद्ध भाव होनेसे भेदोपासना और अभेदोपासना एक साथ नहीं की जा सकती।

ज्ञानयोगके साथ शास्त्रविहित कर्म रह सकते हैं; परन्तु कर्मयोग और भक्तियोग नहीं रह सकते। क्योंकि ज्ञानयोगमें अद्वैतभाव है तथा कर्मयोग और भक्तियोगमें द्वैतभाव है—अतः एक पुरुषमें एक कालमें दो प्रकारके भावोंका अस्तित्व सम्भव नहीं। अर्थात् अभेद-ज्ञानके साथ भक्तियोग और कर्मयोग एक साथ नहीं रह सकते; परंतु भक्तियोग और कर्मयोग—दोनोंमें द्वैतभाव और संसारकी सत्ता समान होनेके कारण ये दोनों एक साथ रह सकते हैं।

प्रश्न—भगवत्प्राप्त आचार्योंमेंसे किन-किन आचार्योंका सिद्धान्त निर्दोष है ?

उत्तर—भगवत्प्राप्त सभी आचार्योंकी जो मान्यता है, उसीको उनके

अनुयायी सिद्धान्त कहते हैं; किन्तु वास्तवमें सिद्धान्त तो जो अन्तिम प्राप्य वस्तु है, वही है और वह सबका एक है। उनकी मान्यताको सिद्धान्त इसलि मानते हैं कि उसे सिद्धान्त माननेसे साधनमें तत्परता होती है। इसलिये उन मान्यताको सिद्धान्तका रूप देना उचित ही है और भगवत्प्राप्त आचार्योंके चलाये हुए सभी मार्ग श्रद्धालुके लिये मुक्तिदायक होनेसे निर्दोष हैं; कि तर्ककी कसौटीपर कसनेसे कोई भी निर्दोष नहीं ठहर सकता।

प्रश्न—आप द्वैत (भेदोपासना) और अद्वैत (अभेदोपासना) इन किसको उत्तम मानते हैं तथा साधकोंके लिये किसको उत्तम बतलाते हैं

उत्तर—दोनोंको ही उत्तम मानता हूँ और जो जैसा अधिकारी होता उसके लिये उसीको उत्तम बतलाता हूँ।

प्रश्न—कौन किसका अधिकारी है—इसका आप किस प्रकार नि करते हैं ?

उत्तर—जिसकी श्रद्धा और रुचि भेदोपासनामें होती है, व भेदोपासनाका और जिसकी अभेदोपासनामें होती है, वह अभेदोपासन अधिकारी है; किन्तु जबतक श्रद्धा और रुचिका निर्णय नहीं होता, तब परमात्माके नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान, सत्पुरुषोंका सङ्ग, स शास्त्रोंका स्वाध्याय—इनको मैं सभी साधकोंके लिये उत्तम समझता हूँ।

प्रश्न—आप साधकके लिये किस नामका जप और किस रूपका ध्य बतलाते हैं ?

उत्तर—वह सदासे ॐ, शिव, राम, कृष्ण, नारायण, हरि आदिमेंसे जि नामका जप तथा जिस साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण रूपका ध्यान कर आया है अथवा जिस नाम और जिस रूपमें उसकी श्रद्धा-रुचि होती उसीको करनेके लिये कहा जाता है या पूछनेके समय उसके भावोंके अनु मेरे हृदयमें जैसा भाव उत्पन्न होता है, उसके अनुसार भी बतलाया जाता है।

वैराग्य और उपरामता

वैराग्यकी बात वैराग्यवान् पुरुष ही कह सकता है और उसीका कहना सार्थक भी है; क्योंकि वैराग्यवान् पुरुषोंके साथ वैराग्य मूर्तिमान् होकर चलता है। वे जिस मार्गसे जाते हैं, उस मार्गमें वैराग्यकी बाढ़ आ जाती है। वैराग्यवान् पुरुषोंके नेत्रोंसे वैराग्यकी लहरें निकल-निकलकर चारों ओर फैलती रहती हैं। सभी भाव अपने सजातीय भावोंको जाग्रत् करते हैं—यह नियम है। अतः वैराग्यकी ये लहरें जिन-जिन मनुष्योंके हृदयमें प्रवेश करती हैं, उन-उन मनुष्योंके अन्तःकरणमें स्थित वैराग्यके भावोंको जाग्रत् करती हैं, उन्हें तीव्र करती हैं।

वैराग्यके साथ उपरामता एवं ध्यानका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। आगे-आगे वैराग्य रहता है, उसके पीछे उपरामता तथा इन दोनोंके पीछे परमात्माका ध्यान। इस प्रकार वैराग्य, उपरामता और ध्यानका पारस्परिक सम्बन्ध वैसा ही है जैसा राम, सीता एवं लक्ष्मणका पथिक रूपमें मिलता है। रामके साथ सीताजी रहती हैं, सीताजीके साथ राम। रामके बिना लक्ष्मणको चैन नहीं और लक्ष्मणके बिना रामको। राम और लक्ष्मण सीताजीको अपने बीचमें रखते हैं। ठीक इसी प्रकार जहाँ वैराग्य और ध्यान है, वहाँ उपरामता उनके बीचमें अवश्य विद्यमान रहती है। अर्थात् वैराग्यसे उपरामता और उपरामतासे परमात्माका ध्यान स्वतःसिद्ध है।

वैराग्यवान् पुरुषके दर्शनमात्रसे वैराग्य उत्पन्न हो सकता है। फिर उसके इशारेसे, व्याख्यानसे वैराग्य उत्पन्न हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। सच्चे वैराग्यवान् पुरुषके प्रवचनसे वेश्यातकको भी वैराग्य हो जाता है।

दत्तात्रेयजीके दर्शनसे वेश्याको वैराग्य हो गया था। यवनभक्त हरिदासजी क्रियाओंसे उनके विरोधियोंद्वारा भेजी हुई अत्यन्त पटु वेश्या भी अ वेश्या-वृत्ति छोड़ संसारसे विरक्त होकर हरिनामपरायण हो गयी। जिस फँसाने गयी थी उसके सर्वबन्धनसे मुक्त करनेवाले जालमें स्वयं फँस गई सच्चे वैरागियोंका यही तो लक्षण है—कामी-से-कामी पुरुषमें भी वैराग्य ज्वाला उत्पन्न कर देना।

श्रीपातञ्जलयोगदर्शनमें आया है—'**वीतरागविषयं वा चित्त** (१।३७) 'वीतराग पुरुषोंको विषय करनेवाला (स्मरण करनेवाला) चि समाधिस्थ हो जाता है।' अर्थात् जो वीतराग पुरुष हैं, उनका ध्यान करने चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है। अतः चित्तवृत्तियोंके निरोध लिये—श्रीशुकदेवजी-जैसे वीतराग पुरुषोंका ध्यान करना चाहि श्रीशुकदेवजीकी उपरामता; उनके वैराग्य आदिके विषयमें क्या कहा जाय एक बार वे किसी सरोवरके पाससे होकर निकले। सरोवरमें बहुत-सी स्त्रि विवस्त्र होकर स्नान कर रही थीं। कुछ ही क्षण बाद उसी मार्ग श्रीवेदव्यासजी निकले। उन्हें देखते ही सब स्त्रियाँ सकुचा गयीं और जल बाहर निकलकर जल्दी-जल्दी अपने कपड़े पहन, अतिविनीत भावसे प्रा करने लगीं। वेदव्यासजी आश्चर्यमें डूब गये कि मेरा युवक पुत्र शुक अभी-अभी यहाँसे निकला है। उसको देखकर तो इन स्त्रियोंने कुछ भी ल न की; किन्तु मुझ वृद्धको देखकर इन्होंने झट लज्जासे कपड़े पहन लि इसका क्या रहस्य है? उन्होंने उन स्त्रियोंसे ही इसका कारण पूछा। स्त्रि उत्तर दिया—'स्वामिन्! शुकदेवजीके मनमें यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह है, यह पशु है, यह पक्षी है—ऐसा भेदभाव नहीं है! उनको कुछ पता नहीं कि ये स्त्रियाँ हैं या वृक्ष। परन्तु आपके मनमें अभीतक यह भेद विद्यमा है। इसीसे हमलोगोंने सकुचाकर कपड़े पहन लिये।' इससे शुकदेवजी उपरामताका पता लगता है।

श्रीमद्भागवतमें जडभरतजीका वर्णन आता है। उनपर भी वैराग्यका नशा चढ़ा था और वह भी इतना अधिक कि ऐसा प्रतीत होता था मानो उन्होंने शराब पी ली हो। शराबका नशा तामसी होता है, अन्नका राजसी और वैराग्यका सात्त्विक। जडभरतजी वैराग्य एवं उपरामताके नशेमें चूर रहते थे। उनकी इस मस्तीको संसारके लोग भला क्या समझें ? जिसको जिस वस्तुका कुछ ज्ञान नहीं, कुछ अनुभव नहीं, उसका महत्त्व वह कैसे आँक सकता है ? अतः घरवालों और बाहरवालोंने उन्हें मूर्ख समझ लिया था। एक बार भद्रकालीकी बलिके लिये कुछ डाकू उन्हें पकड़कर ले गये। जिस समय डाकुओंने जडभरतजीको मारनेके लिये तलवार निकाली, उसी क्षण देवी प्रकट हो गयीं और मारनेवालोंका संहार करने लगीं। जडभरतजीसे देवीने वरदान माँगनेके लिये कहा। देवीका आग्रह देख उन्होंने यही वरदान माँगा कि इन सबको जिला दो। कितना त्याग है ! अपने प्राण लेनेका प्रयत्न करनेवालोंके प्रति भी कितनी दया है !

एक बार जडभरतजी राजा रहूगणजीकी पालकीमें जोड़ दिये गये। कोई जीव पैरोंतले न दब जाय—इस डरसे वे देख-देखकर पैर रखते थे। अतएव दूसरे कहारोंसे उनकी चालका मेल न होनेसे पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी। राजाको यह बात बहुत बुरी लगी। उन्होंने क्रोधसे लाल होकर जडभरतजीको बहुत बुरा-भला कहा, मारनेकी बात कही। ऊपर-नीचेकी बात कही। जडभरतजीने उत्तर दिया—'राजन् ! कौन ऊपर है, कौन नीचे। मुझपर पालकी है, पालकीपर आप, आपपर छत एवं छतपर आकाश। मारेंगे किसको ? आत्मा अमर है, शरीर नाशवान्।' राजा इन रहस्यमय शब्दोंको सुन पालकीसे कूद पड़े। उनको मालूम हुआ ये तो महात्मा हैं। झट उनके चरणोंमें गिर पड़े। दयालु जडभरतजीने उपदेश दिया, जिससे राजाको वैराग्य होकर परमात्माकी प्राप्ति हो गयी। ध्यान लगनेके लिये सौ युक्तियोंकी एक युक्ति वैराग्य है। ध्यान करनेवाले योगी महात्मा तो वैराग्यका आश्रय लेते हैं और युक्तियाँ फिर

अपने-आप पैदा होती रहती हैं।

संसारके पदार्थोंमें आसक्ति न होनेका नाम वैराग्य है। संसारके भो
आसक्ति—प्रीति नहीं, ब्रह्मलोकतकके भोग काक-विष्ठाके समान अत्यन्त
प्रतीत हों, यह वैराग्य है। इन पदार्थोंकी ओर वृत्तियाँ जायँ ही नहीं,
उपरामता है। वैराग्ययुक्त उपरामता ही श्रेष्ठ है। बिना वैराग्यकी उपरामता
कच्ची है, मनको धोखा देनेवाली है। ऋषभदेवजीमें बड़ी उच्च कोटिकी उपरा
थी, गौतमबुद्धसे भी बढ़कर। उनके समान उपरामताका और कोई उदाह
नहीं मिलता। संसारमें विचरते हुए भी उनको संसारका ज्ञान नहीं था। व
आग लगी है, उनको पता नहीं। शरीरमें आग लगी और वह शान्त भी
गयी। पर उनको आगका पता ही नहीं चला। यह उपरामताकी सीमा है।
ऐसी मस्तीमें स्थित हैं कि कुछ पता ही नहीं। देहाध्यास ही नहीं। किसी
संन्यासीमें, किसी भी गृहस्थमें ऐसी उपरामता हो तो वह बड़ी प्रशंसनीय है।

उपरामताके दो भेद हैं—भीतरी और बाहरी। दोनों ही श्रेष्ठ हैं, कि
आत्माके वास्तविक कल्याणके लिये भीतरीका ही अधिक महत्त्व है। र
जनकमें बाहरी उपरामता नहीं थी। वास्तवमें तो उनके लिये जगत्‌का अ
ही था। शुकदेवजीमें दोनों उपरामताएँ थीं—भीतरी भी और बाहरी भी। र
जनकने उनको इस बातका बोध कराया। उन्होंने शुकदेवजीको बतलाया
'महाराज! आपमें भीतरकी एवं बाहरकी दोनों उपरामताएँ हैं। आप पु
श्रेष्ठ हैं। आपको कुछ सीखना नहीं है, जाकर ध्यान लगाइये।'

शुकदेवजीने जाकर ध्यान लगाया। उनकी समाधि लग गयी और
परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो गयी।

समुद्रमें चारों ओरसे नदियोंका जल गिरता है, परन्तु वह गम्भीर
परिपूर्ण है, अचलप्रतिष्ठ है, वह निरन्तर नदियोंके गिरते रहनेसे तनिक
चलायमान नहीं होता, अपनी मर्यादाको नहीं छोड़ता। इस प्रकार
महात्मा, विरक्त, निष्काम पुरुष सदैव अपनी महिमामें परिपूर्ण हैं। संस

नाना प्रकारके कोई भी भोग उनके मनको विचलित नहीं कर सकते (गीता २।७०)। संसारके भोग आकर उनको प्राप्त होते हैं और वे उनका यथायोग्य व्यवहार भी करते हैं, पर उनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। उलटे उन्हें तो शान्ति प्राप्त होती है।

ज्ञानी महात्माकी दृष्टिमें संसारका आत्यन्तिक अभाव है और संसारी पुरुषोंकी दृष्टिमें परमात्माका। विषयीके मनमें यह शङ्का तो रहती है कि परमात्मा है कि नहीं, परन्तु नास्तिक तो कहता है, है ही नहीं। इसी प्रकार ज्ञानीके लिये संसार है ही नहीं।

गीतामें दूसरे अध्यायके ६८वें से ७१वें श्लोकतक ब्राह्मी स्थितिका वर्णन किया गया है। जिसको यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वह फिर मोहको प्राप्त नहीं होता। यदि अन्तकालमें भी यह निष्ठा प्राप्त हो जाय तो निश्चय ही उसे ब्रह्मानन्दकी, निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(गीता २।७२)

गीताके दूसरे अध्यायके ६८वें से७१वें तकके श्लोकोंमें ब्राह्मी स्थितिका वर्णन है। ६८ वें ६९ वेंमें सिद्ध पुरुषोंकी उपरामताका वर्णन किया गया है और ७०-७१ में उनके वैराग्यका।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥*

(गीता २ । ६८–

सिद्ध पुरुषोंकी तो यह स्थिति है और साधकके लिये यही साधन। रागी और वैराग्यवान्‌में रात-दिनका अन्तर है। एकको अन्धकार कहें तो प्रकाश है। वैराग्यवान् पुरुषकी पहचान होनी बड़ी कठिन है। हम मोहग्रसित बुद्धिके द्वारा वैराग्यवान् पुरुषके बाहरी आचरणोंको देखकर महत्त्व समझना चाहें तो कभी नहीं समझ सकते। कपूरकी गन्धको कुत्ता समझे ? कस्तूरीकी पहचान गधा क्या कर सकता है ? बस, यही वैराग्यवान् पुरुषके विषयमें है। वह स्वयं ही अपनेको जानता है थोड़ा-बहुत अनुमान कोई दूसरा वैराग्यवान् पुरुष कर सकता है। जो राागी पुरुषको प्रिय होते हैं, उसको सुख पहुँचानेवाले होते हैं, वे ही पदार्थ भक्तको (वैराग्यवान् पुरुषको) उलटी (वमन) के समान हेय प्रतीत हैं—

रमाबिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी।

(रामचरित० अयो०

---

* 'इसलिये हे अर्जुन ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्र निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है। सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, नित्य-ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांस सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रा समान है। जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले, समुद्रमें उ विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें कि प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होत भोगोंको चाहनेवाला नहीं। जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतार अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् शान्तिको प्राप्त है।'

वैराग्यवान् साधकको विषय विषके समान लगते हैं। रागीको इत्र-फुलेल, लवेंडर आदि चीजें अत्यन्त प्रिय लगती हैं, पर वैराग्यवान् साधकको ये चीजें ऐसी लगती हैं मानो मल-मूत्र हों। उसके शरीरसे कहीं इनका स्पर्श हो जाता है तो उसको ऐसी घृणा होती है मानो पेशाबका छींटा उसपर गिर गया हो। एकदम उलटी बात है। मखमलका गद्दा रागीको अच्छा मालूम होता है पर वैराग्यवान् साधकको वह दुःखरूप प्रतीत होता है। पर कहीं उसका पैर हेसियन (Hessian) की चट्टीपर पड़ जाता है तो वैराग्यके नशेमें वह अत्यन्त प्रिय लगती है। यहाँ बहुत-से लोग सो गये। रातको ठंड पड़नेकी सम्भावनासे उनके पास ही बहुत-से कम्बल, दुशाले, हेसियनकी चट्टी आदि रख दी गयी। रातको रागीका हाथ दुशालेपर ही पड़ेगा। कम्बलपर भी पड़ सकता है, पर तभी जब कि दुशालेसे सर्दी दूर न हो। वैराग्यवान् साधकका हाथ स्वाभाविकरूपसे हेसियनकी चट्टीपर ही जायगा। चाहे जान-बूझकर दोनों ऐसा न करें, परन्तु स्वाभाविकरूपसे उनके द्वारा ये ही क्रियाएँ होंगी। दोनोंका अपना-अपना स्वभाव बन गया है वह जाने-अनजाने स्वतः ही अपनी रुचिके अनुकूल क्रियाओंमें प्रवृत्त हो जाता है।

वैराग्यवान्‌को जो सुख मिलता है, वह रागीके भाग्यमें कहाँ। वैराग्यवान्‌का सुख शुद्ध सात्त्विक है। यदि कहीं फूलोंकी वर्षा होती हो तो वहाँ वैराग्यवान् पुरुष जायगा ही नहीं; क्योंकि वह वस्तु उसे हृदयसे बुरी लगती है। देवतागण उसके लिये विमान लेकर आते हैं पर वह आँख खोलकर उनकी ओर देखता ही नहीं, वह विमानसे घबराता है। वह तो अपने आत्म-सुखमें मस्त रहता है। उसे कितना सुख मिलता है ! दधीचिके पास इन्द्र जाता है। ऋषि ध्यानमें मस्त हैं। आँख खुलनेपर इन्द्र उपदेश करनेके लिये प्रार्थना करता है। ऋषि कहते हैं—'तुम्हारा सुख कुत्तेका-सा है। स्वर्गके अपार वैभवके बीच जो सुख तुम अपनी पत्नी शचीके साथ भोगते हो, वही सुख एक कुत्ता अपनी कुतियाके साथ घूरेपर अनुभव करता है।' वास्तवमें यदि

****

ध्यानपूर्वक सोचें तो बात भी ऐसी ही है। विषयसुखका क्या महत्त्व है! कुछ भी नहीं।

छोटे बच्चे मखमलके कोट पहनते हैं, जरीकी टोपियाँ ओढ़ते हैं, खिलौनोंको लेकर खूब आमोद-प्रमोद करते हैं। कभी-कभी अपने पितासे भी कह बैठते हैं—'पिताजी! आप भी खेलें।' पिता उनकी बात सुनकर हँसता है; क्योंकि वैसे चमकीले कपड़ोंसे, वैसे खिलौनोंसे उसकी स्वाभाविक अरुचि है। उसको वे अच्छे नहीं लगते। ऐसे ही वैराग्यवान् पुरुषको भोगोंकी वस्तु अच्छी नहीं लगतीं। वे इनको देखकर हँसते हैं। वैराग्यमें उन्हें इतना आनन्द मिलता है कि उसके साथ अमृतकी क्या बात कही जाय। उनके हृदयमें क्षण-क्षणमें आनन्दकी लहरें उठती रहती हैं। इस स्थितिको कैसे समझा या समझाया जाय। जिसमें वैराग्य हो, वही इसको समझ सकता है। यह स्वयं अनुभव करनेकी वस्तु है, कहने-सुननेसे इसका अनुभव नहीं हो सकता। साँपके काटनेपर जैसे दुःखकी—पीड़ाकी लहरें आती हैं, समुद्रमें जैसे जलकी लहरें उठती हैं तथा बिजलीके करेंटको छूनेसे जिस प्रकार तमाम शरीरमें एक लहर दौड़ जाती है, वैसे ही वैराग्यमें आनन्दकी लहरें उठती हैं, क्षण-क्षणमें उठती हैं और बहुत ही मधुर एवं सरसरूपमें उठती हैं। आनन्दकी इन लहरोंको कैसे समझावें, कोई उदाहरण नहीं मिलता। कामी पुरुषका दृष्टान्त दें तो उस बेचारेको शान्ति, आनन्दका क्या पता! लोभीको पारस मिलनेपर आनन्दकी लहरें उठती हैं, पर उसके साथ भय है—'कहीं कोई पारस छीन न ले।' उसे अपने नाशका भय है; पारसके नाशका भय है। उसका उदाहरण भी वैराग्यवान् पुरुषकी स्थितिको ठीक रूपसे समझा नहीं सकता। यह तो गूँगेका गुड़ है। जो जानता है, वह कह नहीं सकता; जो कहता है, वह वास्तविकरूपसे जानता नहीं।

रागीको संसारके विषय-भोगोंके भोगनेमें जितना सुख प्रतीत होता है उससे बहुत अधिक आनन्द वैराग्यवान् साधकको वैराग्यमें होता है। उसे

वैराग्यका ऐसा नशा रहता है कि वह भोगोंकी तरफ दृष्टिही नहीं डालता। उसे इनमें रस ही नहीं प्रतीत होता। उपरामता होनेपर जो आनन्द मिलता है, वह वैराग्यसे भी बहुत अधिक है। ध्यान होनेपर तो और भी विशेष आनन्द मिलता है (गीता ५। २१)। उस आनन्दको कैसे समझाया जाय! उस आनन्दरूपी अमृतसागरकी एक बूँदके आभासमात्रसे सारा संसार आनन्दित हो रहा है, मुग्ध हो रहा है, परन्तु उस भाग्यवान् पुरुषको तो वह सागर ही प्राप्त हो जाता है। हमारी अल्पबुद्धि उसका अनुभव करनेमें असमर्थ है। इस आनन्दका अनुभव हमलोगोंको तभी होगा जब भगवत्कृपासे हम उसे प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे।

ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन

श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस प्रकार योगनिष्ठाकी दृष्टिसे स्थान-स्थानपर कर्म और उपासनाका उल्लेख है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे भी उनका वर्णन है। यद्यपि ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे किये गये साधनोंकी कर्मसंज्ञा नहीं है, फिर भी उन्हें क्रिया अथवा चेष्टामात्र तो कह ही सकते हैं। उनको कर्म कहना केवल समझानेके लिये ही है।

ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक फलरूप ज्ञान और दूसरा साधनरूप ज्ञान। यहाँ ज्ञाननिष्ठा कहनेका अभिप्राय योगनिष्ठाके समान ही साधनरूप ज्ञान है। योगनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दोनोंसे ही फलरूप ज्ञानकी प्राप्ति होती है। उसको चाहे परमात्माका यथार्थ ज्ञान कहा जाय अथवा तत्त्वज्ञान; वह सभी साधनोंका फल है और सभी साधकोंको प्राप्त होता है (गीता अध्याय ५, श्लोक ४-५)। फलरूप ज्ञानसे जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसे श्रीमद्भगवद्गीतामें निर्वाण ब्रह्म, परम पद, परम गति, अमृत और माम् आदि नामसे कहा गया है। यही परमात्माकी प्राप्ति है और यही समस्त साधनोंका अन्तिम फल है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इस परम पदकी प्राप्तिके लिये सांख्य अर्थात् ज्ञानयोगकी दृष्टिसे भी अनेकों साधन बतलाये गये हैं। उनका उल्लेख मुख्यरूपसे चार भागोंमें विभक्त करके किया जाता है। इनके अवान्तर भेद भी बहुत-से हो सकते हैं। वे अपनी-अपनी समझ और साधककी दृष्टिपर निर्भर करते हैं। उनके सम्बन्धमें भी थोड़ा प्रकाश डाला जाता है। अभेदनिष्ठाकी दृष्टिसे साधनके निम्नलिखित चार मुख्य भेद हैं—

(१) जड, चेतन, चर और अचरके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह सब ब्रह्म ही है।

(२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह क्षणभङ्गुर, नाशवान् और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें कुछ नहीं है। इन सबका बाध अर्थात् अत्यन्ताभाव होनेपर जो कुछ अबाध और अखण्ड सत्यके रूपमें शेष रह जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है।

(३) जड-चेतनके रूपमें जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह सब आत्मा ही है, आत्मासे भिन्न और कोई भी वस्तु नहीं है।

(४) शरीर आदि सम्पूर्ण दृश्य नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें हैं ही नहीं—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते जब सबका अभाव हो जाता है, तब जो अविनाशी, नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन सत्य वस्तु शेष रह जाती है, वही आत्मा है। इस आत्माको ही देहके सम्बन्धसे देही, शरीरी आदि नामसे व्यवहारमें कहा जाता है। यह आत्मा ही सबका द्रष्टा और साक्षी है।

जैसे भेदभावसे उपासना करनेवाले भक्तको भेदरूपसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है, क्योंकि उसकी धारणा ही वैसी होती है, ठीक वैसे ही पूर्वोक्त ज्ञाननिष्ठाके साधकोंको भी उनके अपने निश्चयके अनुसार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति अभेदरूपसे ही होती है। इस सम्बन्धमें यह ध्यान रखनेकी बात है कि दोनों निष्ठाओंका अन्तिम फल एक ही है। मन और बुद्धिके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। इसीसे उसका शब्दोंके द्वारा वर्णन नहीं होता। वह अनिर्वचनीय है। वह स्थिति भेद-अभेद, व्यक्त-अव्यक्त, ज्ञान-अज्ञान, सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार आदि शब्दोंके वाच्यार्थसे सर्वदा विलक्षण है। मन और बुद्धिसे परे होनेके कारण उसे समझना-समझाना अथवा बतलाना सम्भव नहीं है। जिसे वह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वही उसे जानता है—यह कहना भी नहीं बनता। यह बात केवल दूसरोंको समझानेके लिये कही जाती है। भला, शब्दोंके द्वारा भी कहीं उसका वर्णन सम्भव है ?

ज्ञाननिष्ठाको गीताजीमें कहीं सांख्य और कहीं संन्यासके नामसे बतलाया है।

(१) अब ज्ञाननिष्ठाको लक्ष्यमें रखते हुए उपर्युक्त चार साधनोंमेंसे पह साधनके अवान्तर भेद लिखे जाते हैं।

(क) जितने भी अपने-अपने अधिकारके अनुसार शास्त्रविहित कर्म उन्हें यज्ञका रूप देकर कर्ता, कर्म, करण, क्रिया आदि समस्त कारकोंमें ब्रह्मबु करना। गीताजीमें इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें किया गया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

(४।२

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन कि जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहु देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त कि जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है।'

यह साधन व्यवहारकालकी दृष्टिसे है। साधक व्यवहारके समस्त उ कर्मोंको करता हुआ इस प्रकारका भाव रखे और जहाँ-जहाँ दृष्टि जाय- जो-जो सामने आवे, उसमें ब्रह्मदृष्टि करे, इससे बहुत ही शीघ्र ब्रह्मभाव जागृति हो जाती है।

(ख) व्यवहारमें कभी प्रिय विषयोंकी प्राप्ति होती है तो कभी अप्रियक अनुकूलमें प्रियता और प्रतिकूलमें अप्रियता होती ही है। ज्ञाननिष्ठाके साधक उनमें प्रिय अथवा अप्रिय-बुद्धि न करके ब्रह्मभाव करना चाहिये और परमात्म अभिन्नभावसे स्थित होकर विचरण करना चाहिये। कहीं भी राग-द्वेष नहीं हो चाहिये। यह साधन प्रारब्धानुसार प्राप्त भोगमें राग-द्वेषका अभाव करके ब्रह्म स्थित होनेकी दृष्टिसे है। यह गीताके निम्न श्लोकके अनुसार है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥

(५।२

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

(ग) छान्दोग्योपनिषद् (३ । १४ । १) के **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** यह सब कुछ ब्रह्म ही है—इस वचनके अनुसार सम्पूर्ण चराचर भूतोंके बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दूर-निकट एवं उन भूतप्राणियोंको भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म समझकर उपासना करना। तात्पर्य यह है कि ध्यानके समय केवल एक अखण्ड ब्रह्म ही सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा परिपूर्ण है—इस भावमें स्थित हो जाना। गीतामें इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(१३ । १५)

'वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है।'

(२) 'जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत हो रहा है, वह मायामय है—इस प्रकार सबका बाध करके जो शेष बच जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है'—इस द्वितीय अवान्तर भेदोंका उल्लेख नीचे किया जाता है।

(क) यह तो जीवात्मा और परमात्माका भेद प्रतीत हो रहा है, यह अज्ञानके कारण प्रतीत होनेवाली शरीरकी उपाधिसे ही है। ज्ञानके अभ्यासद्वारा उस भेदप्रतीतिका बाध करके नित्य विज्ञानानन्दघन गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको विलीन करनेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करते-करते एक निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी किञ्चिन्मात्र सत्ता नहीं रहती। उपासनाका यह प्रकार जीव और ब्रह्मकी एकताको लक्ष्यमें रखकर है। गीतामें इसका वर्णन इस प्रकार आया है—

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।

(४।

'अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं।'

(ख) साधारणतया ध्यानका अभ्यास प्रारम्भ करनेपर साधकको वस्तुएँ जान पड़ती हैं—मन, बुद्धि, जीव और ब्रह्म। साधन प्रारम्भ करते जो कुछ स्थूल दृश्य प्रतीत होता है, वह सब भुलाकर मन, बुद्धि अपने-आपको सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें तद्रूप करनेका अभ्यास करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जैसे विशाल समुद्रमें बर्फकी चट्टानके ऊपर-नीचे बाहर-भीतर, सब ओर जल-ही-जल होता है और वह चट्टान स्वयं जलमय ही है—वैसे ही सबको ब्रह्ममय अनुभव करना चाहिये; ऐसा करते क्रमशः मन, बुद्धि और जीव परब्रह्म परमात्मामें लीन हो जाते हैं और केवल परमात्मा-ही-परमात्मा रह जाता है। गीतामें इस साधनका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

(५।

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है सच्चिदानन्दघन परमात्मामें जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

(ग) ब्रह्म अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं विलक्षण वस्तु है। वह जड-चेतन संसारमें है भी और नहीं भी है। यह संसार परमात्माका सङ्कल्प है—इसलिये वह इसमें अधिष्ठानरूपसे विराजमान है। इस दृष्टिसे कह

है कि वह सर्वत्र परिपूर्ण है। वास्तवमें यह संसार संकल्पमात्र ही है, इसलिये कोई वस्तु नहीं है; तब व्यापक-व्याप्य भाव कैसे बनेगा। इस दृष्टिसे देखें तो एकमात्र परमात्मा ही है। वह किसीमें व्यापक नहीं है। यह संसार भी उस परमात्मामें है और नहीं भी है। इसका कारण यह है कि वह अपने-आपमें ही स्थित है और यह संसार उसीमें प्रतीत हो रहा है। प्रतीतिकी दृष्टिसे कह सकते हैं कि यह संसार उसीमें है। परन्तु वास्तवमें जह जगत् स्वप्नवत्, कल्पनामात्र होनेके कारण परमात्मामें सर्वथा है ही नहीं। गीताके निम्न श्लोक इस बातका भी संकेत करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

(९।४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बर्फके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(९।५)

'वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं, मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है।'

यद्यपि इन दोनों श्लोकोंमें वर्णन तो सगुण-निराकार परमात्माके स्वरूपका है, परन्तु ज्ञानयोगका साधक निर्गुण-निराकारकी दृष्टिसे भी यह उपासना कर सकता है।* इस प्रकारका अभ्यास करते-करते सारे संसारका अभाव हो जाता

---

* इसका विस्तार श्रीगीतातत्त्व-विवेचनी पृष्ठ ४९६ और ४९८ में देखना चाहिये।

है और एक परमात्मा ही शेष रह जाता है। यह साधन तो ब्र
अलौकिकताकी दृष्टिसे है। अब आगेका साधन, ब्रह्म सत् और अ
विलक्षण है, इस दृष्टिसे लिखा जाता है।

(घ) ब्रह्मका स्वरूप ऐसा विलक्षण है कि उसे न सत् कह सकते है
न असत्। वह सत् और असत् दोनों ही शब्दोंसे अनिर्वचनीय है। वह स
इसलिये नहीं कहा जा सकता कि मनुष्यकी बुद्धिके द्वारा जिस अस्ति
ग्रहण होता है, वह जडका ही होता है। चेतन वस्तु जड बुद्धिका विषय
है। इस दृष्टिसे वह सत्से विलक्षण है। परन्तु उसे असत् भी नहीं कह
सकता, क्योंकि वास्तवमें उसका अस्तित्व है। जो इस प्रकार सत्
असत्से विलक्षण अचिन्त्य, अनादि, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वको सम
उसका पुनः-पुनः चिन्तन करता है, उसके लिये सारे संसारका बाध हो
है और उस अमृतमय परब्रह्म परमात्माकी सदाके लिये अभेदरूपसे प्रा
जाती है। वह स्थिति मन-बुद्धिसे परे और वाणीसे अतीत है। अ
कहना-सुनना नहीं हो सकता।

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(१३।

'जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त
है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् ही कहा
है, न असत् ही।'

(ङ) ब्रह्मके अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं सत्, अस
विलक्षण होनेपर भी सच्चिदानन्दस्वरूप होनेके कारण केवल सत्ताको प्र
देकर भी उसकी उपासना की जा सकती है। जगत्में जितने भी विनाशी प
देखनेमें आते हैं, उन सबमें अविनाशी परमात्माको समभावसे देखना चाहि
जैसे एक ही आकाश घड़ोंकी उपाधिके भेदसे अनेकों रूपमें प्रतीत हो

वास्तवमें अनेक नहीं है। घड़ोंकी उपाधि नष्ट हो जानेपर वह एक ही दीखने लगता है और वास्तवमें वह एक ही है। घड़ोंकी उपाधि रहनेपर भी आकाशमें भिन्नता नहीं आती। वैसे ही एक ही परमात्मा शरीरोंके भेदसे अनेक-सा दीखता है, परन्तु वास्तवमें एक ही है। इस प्रकार समझकर जो इस नाशवान् जगत्में एक नित्य विज्ञानानन्दघन अविनाशी परमात्माको सदा-सर्वदा समभावसे देखता है, वह इस जड संसारका बाध करके सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इसका उल्लेख यों हुआ है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(१३। २७)

'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(१८-२०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

(च) जिस प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी सत्ताको प्रधानता देकर उपासना हो सकती है, वैसे ही केवल चेतनभावको प्रधानता देकर भी हो सकती है। उसका प्रकार यह है कि ब्रह्म अज्ञानरूप अन्धकारसे परे सबका प्रकाशक और विज्ञानमय है। उसका स्वरूप परम चैतन्य एवं अखण्ड अनन्त ज्योतिर्मय है। जो ब्रह्मके इस स्वरूपके ध्यानमें तन्मय हो जाता है वह भी इस जड संसारका बाध करके अभेदरूपसे सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें

इस स्वरूपकी उपासना निम्नलिखित श्लोकमें वर्णित है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥
(१३।

'वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करने है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है।'

(छ) सत् और चेतनभावके समान ही आनन्दभावकी प्रधानता उपासना होती है। साधकको इस प्रकार विचार करना चाहिये कि अनन्त, विज्ञानानन्दघन परमात्मा आनन्दका एक महान् समुद्र है और मैं बर्फकी डलीकी तरह डूब-उतरा रहा हूँ। मेरे नीचे-ऊपर, भीतर-बाहर आनन्दकी ही धारा प्रवाहित हो रही है—आनन्दकी तरङ्गें उठ रही हैं सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्दकी बहार मची हुई है। यह आनन्द कैसा है? है, अपार है, शान्त है, घन है, अचल है, यह ध्रुव, नित्य तथा सत्य है बोधस्वरूप है, यही ज्ञानस्वरूप है—यह आनन्द अनित्य है, सर्वश्रेष्ठ है है, यह आनन्द ही सत्ता है, यह आनन्द ही चेतन है, यह आनन्द ही सब है। जब साधक इस प्रकार ब्रह्मके आनन्दभावकी भावना करके-करते मग्न हो जाता है, तब उसकी स्थिति निम्नलिखित हो जाती है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
(६।

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं

यहाँतक जिन उपासनाओंका उल्लेख किया गया है, वे तत्पद

लक्ष्यमें रखकर 'इदम्' रूपसे की जानेवाली हैं। वास्तवमें ब्रह्म 'इदम्' अथवा 'अहम्' किसी भी वृत्तिका विषय नहीं है। साधककी उपासनाके लिये ही उसका वृत्त्यारूढरूपसे वर्णन किया जाता है। जैसे ऊपर 'इदम्' वृत्तिके द्वारा होनेवाली उपासनाका वर्णन हुआ, वैसे ही 'त्वम्' पदके लक्ष्यार्थको दृष्टिमें रखकर 'अहम्' बुद्धिसे होनेवाली उपासनाकी पद्धति नीचे बतलायी जाती है।

(३) **'सर्वं यदयमात्मा'** (बृ० उ० २।४।६) इस श्रुतिके अनुसार जो कुछ है, वह सब आत्मा ही है अर्थात् सब कुछ मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस तृतीय साधनके अवान्तर भेद लिखे जाते हैं। इसके केवल तीन प्रकार ही बतलाये जाते हैं। प्रथममें यह दृष्टि रखी गयी है कि समस्त भूत-प्राणी आत्माके अन्तर्गत हैं। दूसरेमें यह दृष्टि रखी गयी है कि भूत और आत्मा ओतप्रोत हैं। तीसरेमें सबके सुख-दुःखको आत्मसदृश अनुभव करनेकी बात है। उनका विवरण निम्नलिखित है—

(क) साधकको चाहिये कि तत्त्वदर्शी महात्मा पुरुषोंकी सेवामें उपस्थित होकर ज्ञाननिष्ठाके तत्त्वको सरलतासे समझे और अज्ञानजनित देहात्मबुद्धिको हटाकर नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाय और अपने अनन्त चेतन आत्मस्वरूपके अन्तर्गत सारे चराचर भूत-प्राणियोंको एक अंशमें स्थित समझे। वह ऐसा अभ्यास करे कि जैसे आकाशसे उत्पन्न वायु, जल, तेज और पृथ्वी उसके एक अंशमें स्थित हैं, वैसे ही मुझ अनन्त नित्य-विज्ञानानन्दघन आत्माके एक अंशमें यह सारा संसार स्थित है। इस प्रकार पुनः-पुनः अभ्यास करनेसे साधक सच्चिदानन्दघन परमात्माको अभेदरूपसे प्राप्त कर लेता है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४।३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भली दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरल पूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

> यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
> येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
>
> (४।३

'जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

(ख) जो कुछ जड-चेतन, चराचर प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म ब्रह्म ही आत्मा है, इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है। जैसे सर्वव्यापी आ सम्पूर्ण बादलोंमें सर्वत्र समानभावसे व्यापक रहता है, वैसे ही इन स चराचर भूत-प्राणियोंमें आत्मा समानभावसे व्यापक रहता है। जिस प्र आकाशसे ही झुंड-के-झुंड बादल पैदा होते हैं और उसीमें स्थित रहते इसलिये सारे बादलोंका कारण और आधार आकाश ही है, ठीक वैसे समस्त भूत-प्राणियोंका कारण और आधार आत्मा है। इस प्रकार सम चराचर भूत-प्राणियोंको अपना स्वरूप ही समझना चाहिये और सबको अ आत्मामें तथा आत्माको सारे भूत-प्राणियोंमें समभावसे देखना चाहिये। प्रकारके अभ्याससे मनुष्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

> सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
> ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
>
> (६।२

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मा तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और स

भूतोंको आत्मामें देखता है।'

(ग) जैसे देहाभिमानी मनुष्य अपने देहके हाथ-पैर आदि सारे अङ्गोंमें अपने-आपको और सुख-दुःखोंकी प्राप्तिको समभावसे देखता है, वैसे ही साधकको चाहिये कि सम्पूर्ण विश्वको आत्मा समझकर समस्त चराचर भूत-प्राणियोंमें अपने-आपको और उनके सुख-दुःखोंको समभावसे देखनेका अभ्यास करे। अभिप्राय यह है कि जैसे मनुष्य अपने-आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दुःख पहुँचाना नहीं चाहता तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये अथक प्रयत्न करता है, वैसे ही साधक विश्वके किसी भी व्यक्तिको कभी किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी दुःख न पहुँचाकर सदा तत्परताके साथ उसके सुखके लिये चेष्टा करे। इस प्रकार समस्त भूतोंमें आत्मा समझकर उनके हितकी चेष्टा करनेसे मनुष्य सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इस भावको इस प्रकार प्रकट किया गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

(४) शरीर आदि जितने भी दृश्यपदार्थ हैं, वे सब नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें नहीं हैं। 'त्वम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा अविनाशी, नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन होनेसे सत्य वस्तु है। ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस चतुर्थ साधनके कुछ अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं।

(क) आत्मा अर्थात् 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ अजन्मा, अचिन्त्य, अचल, अक्रिय, सर्वव्यापी और अव्यक्त है। वह शाश्वत, अव्यय, अक्षर और नित्य होनेके कारण सत्य है। उस अविनाशीके ये प्रतीत होनेवाले विनाशशील, अनित्य और क्षणभङ्गुर देह आदि असत्य हैं, क्योंकि उस

****

अधिष्ठानरूप, सत्यस्वरूप आत्माके स्वप्नवत् संकल्पके आधारपर ही ये टिके हुए हैं। इस प्रकार समझकर आत्माके सिवा सब विनाशशील जडवर्गका अत्यन्त अभाव करके अपने अविनाशी सत्यस्वरूप आत्मामें ही नित्य-निरन्तर बुद्धिको लगाना चाहिये। जब इस प्रकारके अभ्याससे वृत्ति आत्माकार हो जाती है, तब शेषमें एक आत्मा ही बच रहता है और वही अपना स्वरूप है। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे इस क्षणभङ्गुर एवं जड दृश्यवर्गका अत्यन्त अभाव हो जाता है और नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२।१६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

अविनाशी तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥

(२।१७-१८)

'नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग—व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।'

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

(२।१९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता

है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है।'

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२।२०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

(ख) जिस प्रकार विनाशी पदार्थोंमें विद्यमान अविनाशी वस्तुकी सत्ताको प्रधानता देकर उपर्युक्त उपासना होती है, वैसे ही इन जड पदार्थोंका अभाव करके साक्षी और द्रष्टाके रूपमें चेतनको प्रधानता देकर भी होती है। यह संसार क्षणभङ्गुर, नाशवान्, अनित्य एवं जड है। इससे इन्द्रियोंको हटाकर अहंता, ममता, कामना और आसक्तिका त्याग कर विवेक एवं वैराग्ययुक्त बुद्धिसे निःसङ्कल्पताका अभ्यास करना चाहिये—अर्थात् जो कुछ दृश्य सामने आवे, उसको अनित्य और नाशवान् समझकर उसके अभावका अभ्यास करना चाहिये। उनकी विनाशिता और अनित्यताका विचार इसमें सहायक होता है। इस प्रकार पुनः-पुनः सबके अभाव तथा निःसङ्कल्पताका अभ्यास करते-करते अन्तमें केवल चेतन पुरुष ही बच रहता है। वही ब्रह्म है। यह बात समझकर अभ्यास करनेसे अचिन्त्य विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। गीतामें यह बात इस प्रकार कही गयी है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
(६।२५)

****

'क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको आत्मामें स्थित करके आत्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(१३।३४)

'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिके अभावको जो पुरुष ज्ञाननेत्रों द्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

(ग) जिस प्रकार सत्‌की प्रधानता और चेतनकी प्रधानतासे अहम् (त्वम्) पद लक्ष्यार्थ ब्रह्मकी उपासना होती है, वैसे ही आनन्दकी प्रधानतासे भी ब्रह्मकी उपासना होती है। साधकको चाहिये कि दृश्यमात्रको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर सबको मनसे त्याग दे और एकमात्र आत्मानन्दका ही चिन्तन करे। आनन्द ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है। ऐसा समझकर यह अनुभव करे कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, सत्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, परम आनन्द, अत्यन्त आनन्द, सम आनन्द, चेतन आनन्द, एक आनन्दके सिवा और कुछ नहीं है। वह आनन्द ही आत्मा है। आनन्द ही मेरा स्वरूप है। मुझ आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते अपनेको उस आनन्दसागर आत्मस्वरूपमें इस प्रकार विलीन कर दे जैसे जलमें बर्फकी डली। इस प्रकारके अभ्याससे साधक संसारसे मुक्त होकर विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। गीताजीमें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५।२१)

‘बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।’

(घ) जिस प्रकार सत्, चित् और आनन्दको अलग-अलग प्रधानता देकर उपासना की जाती है, वैसे ही उनको एक साथ मिलाकर भी चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द दोनोंकी प्रधानतासे इस प्रकार उपासना करनी चाहिये। सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाओंको मायामय समझकर सारे सङ्कल्पोंसे रहित हो जाय और ‘अहं ब्रह्मास्मि’ (बृहदा० १।४।१०) इस श्रुतिके अनुसार एक नित्य विज्ञानानन्द ब्रह्मको ही आत्मा समझकर अर्थात् वह सच्चिदानन्दघन मेरा स्वरूप ही है— इस ज्ञानपूर्वक दृढ़ निश्चयके साथ उसमें अभेदरूपसे स्थित होना चाहिये। उसमें स्थित होकर विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपका इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। आत्मस्वरूप वास्तवमें परिपूर्ण चेतन, अपार, अचल, ध्रुव, नित्य, परम सम, अनन्त पूर्णानन्द एवं परम शान्तिमय है। आत्मामें अज्ञानान्धकाररूपिणी माया नहीं है। वह उससे अत्यन्त विलक्षण, परम देदीप्यमान प्रकाश और परम विज्ञान तथा आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार समझकर उसका निरन्तर चिन्तन करते हुए उसीमें रमते हुए तन्मय होकर आनन्दमग्न रहना चाहिये। ऐसे अभ्याससे उस परमपद, अचिन्त्यस्वरूप, परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(गीता ५।२४)

‘जो पुरुष निश्चयपूर्वक अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म

परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।*

(ङ) अहंता, ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, प्रमाद-आलस्य, निद्रा और पाप आदिसे रहित होकर अपने विज्ञानानन्दघन अनन्त आत्म-स्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाय और इस शरीर तथा संसारको अपने आत्माके एक अंशमें संकल्पके आधारपर स्थित समझकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मनके द्वारा लोकदृष्टिसे की जानेवाली समस्त क्रियाओंके होते समय यह समझे कि यह सब मायामय गुणोंके कार्यरूप मन, प्राण, इन्द्रिय आदि अपने-अपने मायमय गुणोंके कार्यरूप विषयोंमें विचर रहे हैं—वास्तवमें न तो कुछ हो ही रहा है और न मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध ही है अर्थात् नेत्रेन्द्रिय रूप देख रही है—श्रवणेन्द्रिय शब्द सुन रही है, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श कर रही है—घ्राणेन्द्रिय सूँघ रही है—रसना रस ले रही है—वागिन्द्रिय बोल रही है—इसी प्रकार सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं—इन सबके साथ मुझ चेतन द्रष्टा साक्षी आत्माका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार कर्तापनके अभिमानसे रहित हो नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपको लक्ष्यमें रखते हुए सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाओंको मायामय समझकर द्रष्टा साक्षी होकर विचरे—तात्पर्य यह है कि मन, इन्द्रियाँ और उनके विषय जो कुछ भी देखने और समझनेमें आते हैं, वे सब सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्यरूप होनेके कारण गुण ही हैं—इसलिये जो कुछ भी क्रिया अर्थात् चेष्टा होती है, वह गुणोंमें ही होती है। यह सब क्षणभङ्गुर, जड और मायामय होनेके कारण अनित्य हैं। 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा द्रष्टा, साक्षी और चेतन होनेके कारण नित्य, सत्य और उनसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिये उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-सोते, सब समय इन मायामय पदार्थों और कर्मोंका अभाव समझकर चिन्मय, साक्षी आत्माको उन सबसे

* यह साधन ध्यानकी दृष्टिसे है—अब आगेका साधन व्यवहारकी दृष्टिसे बतलाया जाता है।

अलग और निर्लेप अनुभव करना चाहिये और अचल तथा नित्यरूपसे स्थित रहना चाहिये। जो कुछ दृश्यमान पदार्थ हैं, वे मायामरीचिकाकी भाँति बिना हुए ही प्रतीत होते हैं—वास्तवमें एक द्रष्टा साक्षी चेतन, निर्लेप आत्मा ही है। इस प्रकार अभ्यास करते-करते दृश्यमान संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है और नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(गीता ५। ८—९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(गीता १४। १९)

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

यह साधन सब प्रकारके विहित कर्मोंको करते हुए भी चलता रहता है।

(च) यह साधना विचारकालकी है। इसके द्वारा आत्माके परत्वका विचार होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसकी पद्धति यह है कि यह दृश्यमान शरीर पृथ्वीपर स्थित है, इसलिये पृथ्वी इससे परे है। पृथ्वीसे तेज,

वायु, आकाश, समष्टि मन और महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) उत्तरोत्तर पर है। महत्तत्त्वसे भी पर अव्याकृत माया है और उससे भी परे परम पुरुष परमात्मा है। परमात्मासे परे और कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि वह सबकी सीमा है। इस प्रकार बाह्य दृष्टिसे नित्य विज्ञानानन्दघन तत्त्वको पर-से-पर विचार करके आभ्यन्तर दृष्टिसे पर-से-पर आत्माका चिन्तन करना चाहिये। स्थूल शरीरसे परे सूक्ष्म और आभ्यन्तर प्राण हैं। प्राणोंसे इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उत्तरोत्तर पर, सूक्ष्म एवं आभ्यन्तर हैं। तदनन्तर स्वभाव अर्थात् अव्याकृत मायाका अंश है। उससे पर और आभ्यन्तर आत्मा है। वही अपना स्वरूप है। उससे सूक्ष्म और आभ्यन्तर कुछ भी नहीं है। वह स्वयं ही अपने-आप है, वह सबकी सीमा है। आत्मासे लेकर परमात्मातक जो कुछ भी दृश्यवर्ग है वह मायामय है—मायाका कार्य है। इसीके कारण आत्मा और परमात्मामें घटाकाश और महाकाशकी भाँति भेद-सा प्रतीत होता है। वास्तवमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जिस प्रकार घटके नाशसे घटाकाश और महाकाशकी एकता प्रत्यक्ष दीखने लगती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानके द्वारा मायामय अज्ञानका नाश होनेपर आत्मा और परमात्माकी एकताका साक्षात्कार हो जाता है। अतएव मायाके कार्यरूप दृश्यमान जड जगत्को कल्पित अथवा प्रतीतिमात्र समझकर इसके चिन्तनसे रहित हो जाना चाहिये और एक नित्य विज्ञानानन्दघन आत्माके स्वयंसिद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये; इस प्रकारके अभ्याससे मनुष्य परमगतिस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यही बात गीता और कठोपनिषद् भी कहती है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
(३।४२)

'इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है, वह आत्मा है।'

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(कठोपनिषद् १।३।१०-११)

'इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय पर हैं, विषयोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) पर है। महत्तत्त्वसे अव्यक्त (मूलप्रकृति) पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है। पुरुषसे पर और कुछ नहीं है। वही [सूक्ष्मत्वकी] पराकाष्ठा (हद) है, वही परा गति है।'

(छ) परमात्माको प्राप्त पुरुषकी जैसी स्वाभाविक स्थिति होती है, उसको लक्ष्य करके वैसी ही स्थिति प्राप्त करनेके लिये साधक साधन करता है। इस दृष्टिसे साधकको चाहिये कि स्वप्नसे जगनेके बाद जैसे स्वप्नकी सृष्टिमें सत्ता, ममता और प्रीति लेशमात्र भी नहीं रहती, वैसे ही इस संसारको स्वप्नवत् समझे एवं ममता और आसक्तिसे रहित होकर संसारके बड़े-से-बड़े प्रलोभनोंमें भी न फँसे और किसी भी घटनासे किञ्चिन्मात्र भी विचलित न हो। साथ ही किसीके साथ अपना कोई सम्बन्ध न समझे। राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंसे रहित होकर सदा-सर्वदा निर्विकार अवस्थामें स्थित रहे और अपने नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करे। इस प्रकार अपने आत्मामें ही रमण करता हुआ आत्मानन्दमें ही तन्मय और मग्न रहे। यह अभ्यास करनेसे मनुष्य क्लेश, कर्म और सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त होकर परमशान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। गीतामें परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन इस प्रकार है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(३।१७)

'जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

इस प्रकार ज्ञाननिष्ठाकी साधनाके अनेक अवान्तर भेद शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। यहाँ केवल श्रीमद्भगवद्गीताकी दृष्टिसे कुछ बातें लिखी गयी हैं। साधकोंकी श्रद्धा, रुचि, धारणा, पद्धति और अधिकारभेदसे और भी बहुत-से भेद हो सकते हैं। पूर्वोक्त साधनोंमेंसे किसी भी एक साधनका लगन और तत्परताके साथ अनुष्ठान करनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। सभी साधनोंका फल एक ही है। अतएव ज्ञाननिष्ठाके साधकोंको पूर्वोक्त सधानोंमेंसे किसी एकको अपनाकर तत्परताके साथ लग जाना चाहिये।

निर्गुण-निराकारका ध्यान

दृश्यका बाध

जो कुछ भी दृश्यमात्र है, वह सब मायामय है, स्वप्नवत् है। जैसे स्वप्नसे जगनेके बाद स्वप्नके संसारका नाम-निशान नहीं है, उससे भी बढ़कर इसका अत्यन्त अभाव है। स्वप्नका संसार स्वप्नसे जगनेके बाद काल्पनिक सत्ताको लिये हुए है अर्थात् कल्पनामात्र है। किन्तु परमात्माके स्वरूपमें जगनेके बाद अर्थात् परमात्माका साक्षात्कार होनेके बाद यह संसार कल्पनामात्र भी नहीं है। क्योंकि स्वप्नमें जो संसार जिन मन-बुद्धिमें प्रतीत हुआ था, जगनेके बाद वही मन-बुद्धि हैं, पर उन मन-बुद्धिमें स्वप्नके संसारकी कोई सत्ता कायम नहीं है, इसलिये वह सत्ता कल्पना मानी गयी है। परमात्माकी प्राप्ति होनेके उत्तरकालमें तो ये मन-बुद्धि मायिक होनेके कारण यहीं—इस मायामय शरीरमें ही रह जाते हैं। इसलिये परमात्माके स्वरूपमें इस संसारका अत्यन्त अभाव है। परन्तु जिस व्यक्तिको लोग परमात्माकी प्राप्ति हुई मानते हैं, उस व्यक्तिके अन्तःकरणमें यह संसार स्वप्नवत् है—ऐसा शास्त्र कहते हैं। अतः साधक पुरुषको उचित है कि संसारको मायामात्र, स्वप्नवत्, आकाशमें प्रतीत होनेवाले तिरवरोंकी भाँति अथवा मरुमरीचिकाकी तरह वास्तवमें कोई पदार्थ है नहीं, केवल प्रतीति होती है—ऐसा समझकर उसका मनसे कतई त्याग कर दे अथवा यों कहिये कि सङ्कल्परहित हो जाय, स्फुरणारहित हो जाय, संसारको भुला दे।

किसी कविने कहा है—

> **मन फुरनासे रहितकर, जौ नहि बिधिसे होय।**
> **चाहे भक्ति चाहे ज्ञानसे, चाहे योगसे खोय॥**

अद्वैत-सिद्धान्तका सार यह है कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा कुछ भी न हुआ है, न है। तीनों कालोंमें इस दृश्यका तथा उन तीनों कालोंका भी अत्यन्त अभाव समझकर एक नित्य विज्ञान-आनन्दघन परमात्मामें तन्मय हो रहना चाहिये।

परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन

परमात्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। ये तीनों परमात्माके स्वरूप हैं। ये विशेषण नहीं हैं; क्योंकि यहाँ विशेषण और विशेष्यका भेद नहीं है। ये उनके गुण भी नहीं हैं, क्योंकि परमात्मामें गुण और गुणीका भेद नहीं है और न ये उनके धर्म ही हैं; क्योंकि उनमें धर्म और धर्मीका भी भेद नहीं है।

सत्—

हमलोगोंको सत् एक दूसरी वस्तु प्रतीत होती है, चित् एक दूसरी वस्तु प्रतीत होती है और आनन्द एक और ही वस्तु प्रतीत होती है; पर बात ऐसी नहीं है। जो सत् है, वही चेतन है और जो चेतन है, वही आनन्द है। या यों कहिये कि जो चेतन है, वही सत् है और जो सत् है, वही आनन्द है। अथवा यों कहिये कि जो आनन्द है, वही चेतन है और जो चेतन है, वही सत् है। जिस सत्को हमलोग सत् मानते हैं, वह सत् वास्तवमें परमात्माका स्वरूप नहीं है; क्योंकि परमात्माका स्वरूप उस सत्से विलक्षण है।

गीतामें कहा है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
(१३।१२)

'जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदिरहित परमब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।'

बुद्धिके द्वारा समझमें आनेवाली सत्ता मायिक सत्ता है। इसलिये वह मायाका ही कार्य है। साधक पुरुषको उसमें परमात्मबुद्धि करनेसे परमात्माकी प्राप्ति तो हो जाती है, किन्तु वास्तवमें वह सत् परमात्माका स्वरूप नहीं है; क्योंकि यह बुद्धि मायाका कार्य होनेसे मायातीत परमात्माका लक्ष्य नहीं कर सकती। उस सत्‌को बुद्धिविशिष्ट परमात्माका स्वरूप कहा जा सकता है, केवल निर्विशेष परमात्माका स्वरूप नहीं।

चेतन—

जिस चेतनको हमलोग चेतन समझते हैं, वह चेतन भी वास्तवमें परमात्मा-स्वरूप नहीं है। उससे भी परमात्माका स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। इसलिये गीतामें कहा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(१३। १७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है।'

नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा जो ज्योतियाँ प्रतीत होती हैं इनसे तो बुद्धिके द्वारा समझमें आनेवाली ज्योतियाँ विलक्षण हैं अर्थात् प्रकाश आदिकी अपेक्षा विवेक और ज्ञान श्रेष्ठ है। उससे भी विलक्षण वह है जो चेतन आत्माके द्वारा चिन्मय वस्तु समझमें आती है; क्योंकि बुद्धि नेत्र और नेत्रोंके विषयको जानती है पर नेत्र बुद्धि या बुद्धिके विषयको नहीं समझ सकते। इसी प्रकार आत्मा बुद्धि और बुद्धिके विषयको जानता है, पर बुद्धि आत्माको नहीं जान सकती। यद्यपि आत्मा भी, जो अपने स्वरूपको जानता है, वह शुद्ध एवं सूक्ष्म हुई बुद्धिके द्वारा जानता है।

कठोपनिषद्‌में कहा है—

****

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

(१ । ३ । १२)

'सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें छिपा हुआ यह आत्मा सबको प्रतीत नहीं होता; परन्तु यह सूक्ष्म बुद्धिवाले महात्मा पुरुषोंसे तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ही देखा जाता है।'

किन्तु बुद्धिके द्वारा भी जो आत्माका स्वरूप जाननेमें आता है, वह बुद्धिविशिष्ट परमात्माका स्वरूप है, केवल निर्विशेषस्वरूप तो उससे भी विलक्षण है, जो किसी प्रकार बुद्धिके द्वारा जाना नहीं जा सकता।

उपनिषद्‌में कहा है—

'...........येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विज़ानीयात् ....।'

(बृह० ४ । ५ । १५)

'जिससे इन सबको जानता है, उसको किससे जाना जाय? वह ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है; आत्मा है; अगृह्य है, ग्रहण नहीं किया जाता; अशीर्य है, घिसता नहीं है; असंग है, आसक्त नहीं होता; असित है, व्यथाको प्राप्त नहीं होता; उसका विनाश नहीं होता। अरे, उस जाननेवालेको किसके द्वारा जाना जाय ?'

जाननेमें आनेवाले सारे (ज्ञेय) पदार्थ बुद्धिके ही कार्य हैं। उससे ज्ञान सूक्ष्म और महान् है तथा बुद्धिका कार्य करते हुए भी बुद्धिका स्वरूप ही है। उस ज्ञानसे भी ज्ञाता अनन्त है और वह बुद्धिसे अत्यन्त विलक्षण है। अभिप्राय यह कि ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान व्यापक, श्रेष्ठ, उत्तम, सूक्ष्म, चेतन और अनन्त है। पातञ्जलयोगदर्शनमें भी कहा है—

'तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।'

(४। ३१)

'क्लेश और कर्मकी निवृत्ति होनेपर सम्पूर्ण आवरणरूप मलके दूर होनेसे ज्ञानकी अनन्ततामें ज्ञेय अल्प है।'

तथा ज्ञानकी अपेक्षा आत्मा (ज्ञाता) सूक्ष्म, चेतन, आनन्दरूप, महान् और विलक्षण है। यह जो आत्माका स्वरूप वर्णन किया गया है, इससे भी वह परमात्माका निर्विशेष स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। वह जाननेमें नहीं आ सकता, क्योंकि वहाँ ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूप त्रिपुटी नहीं है। वह प्रापणीय वस्तु है।

आनन्द—

जिस आनन्दको हमलोग आनन्द समझते हैं, वह आनन्द भी वास्तवमें परमात्माका स्वरूप नहीं है; क्योंकि उससे परमात्माका आनन्द-स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है।

गीतामें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५। २१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय-आनन्दका अनुभव करता है।'

निद्रा, आलस्य आदिसे उत्पन्न सुख तो तामसी है। उससे तो इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे होनेवाला सुख राजसी होनेसे श्रेष्ठ है। एवं अध्यात्मविषयसे प्राप्त हुआ ध्यानजनित सात्त्विक सुख उससे भी श्रेष्ठ है; किन्तु परमात्माका जो आनन्दमय स्वरूप बतलाया गया है, वह इन सबसे विलक्षण है। निद्रा,

आलस्यसे होनेवाले सुख तो वह राजसी सुख इसलिये श्रेष्ठ है कि उसमें तो ज्ञान नहीं रहता और इसमें ज्ञान रहता है। तथा विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न जो राजस सुख है, वह क्षणिक, नाशवान् एवं परिणाममें दुःखका हेतु है तथा सात्त्विक सुख उसकी अपेक्षा स्थायी और परिणाममें अमृत-तुल्य है। इसलिये अध्यात्मविषयक सात्त्विक सुखकी दृष्टिसे राजस सुख भी हेय—त्याज्य है। किन्तु परमात्माके स्वरूपकी दृष्टिसे तो ध्यानजनित अध्यात्मविषयक सात्त्विक सुख भी अपेक्षाकृत निम्न श्रेणीका है। इसलिये उसकी दृष्टिसे यह भी त्याज्य है। गीतामें बतलाया है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥
(१४।६)

'हे निष्पाप! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है, वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् अभिमानसे बाँधता है।'

ध्यानजनित सुख भी देश-कालसे सीमित होने और बुद्धिका विषय होनेके कारण जड, अल्प और अनित्य है।

जाननेवाला चेतन होता है, जाननेमें आनेवाली वस्तु जड होती है जाननेमें अल्प चीज ही आती है और जो अल्प होती है, वह देश-कालसे सीमित ही होती है; किन्तु वह परमात्मा देश-कालसे रहित है। इसलिये परमात्माका आनन्दस्वरूप इन सबसे विलक्षण है।

उस लौकिक आनन्दका भान उस आनन्दको नहीं होता, उसका जाननेवाला कोई दूसरा ही होता है; किन्तु परमात्माका स्वरूपभूत जो आनन्द है, उसे स्वयं अपने-आपका ज्ञान है, वह दूसरेका विषय नहीं हो सकता इसलिये वह चेतन है; और वह देश-कालसे अतीत है, इसलिये नित्य है किन्तु इस प्रकारसे समझे हुए परमात्माके स्वरूपसे भी वह परमात्मा

निर्विशेष स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। जिसका वर्णन किया गया है, यह भी बुद्धिविशिष्ट परमात्माका ही स्वरूप है। बुद्धिविशिष्ट परमात्माके स्वरूपको भी सूक्ष्म और शुद्ध हुई बुद्धिद्वारा समझा जा सकता है। इसीको बुद्धिग्राह्य, अतीन्द्रिय कहा है।

भगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

(गीता ६। २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित वह कभी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।'

वह जो परमात्माका निर्विशेष स्वरूप है, उसका तो वर्णन विधि या निषेध—किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकता; किन्तु फिर भी वेद और शास्त्र जिसे लक्ष्यकर जिसकी व्याख्या करते हैं, उसे ध्येय बनाकर मनुष्य साधन करता है तो शाखाचन्द्रन्यायकी भाँति वह उस परमात्माको प्राप्त हो जाता है। शाखाचन्द्रन्यायका अभिप्राय यह है कि द्वितीयाका चन्द्रमा किसी एकको दीख गया और दूसरे आदमीको दीखा नहीं। जिसको दीखता है, वह पुरुष दूसरेको एक वृक्षकी शाखाको लक्ष्य बनाकर यों समझाता है कि चन्द्रमा उस वृक्षकी शाखासे ठीक चार अंगुल ऊपर है। एक तीसरे आदमीको समझाता है कि चन्द्रमा उस मकानके कोनेसे सटा हुआ है। असलमें विचार किया जाय तो दोनों ही बाते गलत हैं; किन्तु इस प्रणालीसे उन्हें चन्द्रदर्शन हो जाता है। इसी प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये जितने साधन बतलाये गये हैं और परमात्माका जो स्वरूप बतलाया गया है, उसको लक्ष्य बनाकर साधक पुरुष परमात्माकी प्राप्तिका साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है।

परमात्मा जो साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, व्यक्त-अव्यक्त-स्वरूप

बतलाया गया है, वह सब ठीक भी है, बेठीक भी। क्योंकि साधु-महात्माओंने, वेद-शास्त्रोंने परमात्माके स्वरूपके विषयमें जो वर्णन किया है, उसको लक्ष्य बनाकर साधन करनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये तो वह बतलाना ठीक है। और वास्तवमें शब्दोंके द्वारा जो परमात्माके स्वरूपकी व्याख्या की गयी है, उससे परमात्मा अत्यन्त विलक्षण है; क्योंकि परमात्माके स्वरूपका वर्णन वाणीद्वारा हो ही नहीं सकता।

अतएव निराकारका ध्यान करनेवाले पुरुषोंको शास्त्रोंमें वर्णित परमात्माके स्वरूपको लक्ष्यकर किसी भी विधिसे तत्परतापूर्वक साधन करना चाहिये इससे स्वतः वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति हो सकती है।

★

ईश्वर-महिमा

(१) ईश्वर कल्पना नहीं, ध्रुव सत्य है

कुछ भाई ऐसे हैं, जो ईश्वरको कल्पित मानते हैं परन्तु विचार करके देखनेसे यही सिद्ध होता है कि वे ईश्वरके तत्त्वको नहीं जानते। ईश्वर शेखचिल्लीके घरकी कल्पनाकी भाँति मनमोदक नहीं हैं। जो कल्पित होता है वह असत्य होता है और जो असत्य होता है वह विचार करनेपर ठहरता नहीं। वह वस्तु उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाली होती है, प्रत्यक्षमें दीखती हुई भी एक रूपमें नहीं रह सकती और उसका परिवर्तन होता रहता है, परन्तु जो वस्तु सत् होती है, उसकी न उत्पत्ति होती है न उसका विनाश होता है। वह सदा अनादि होती है, एक रूपमें रहती है और उसमें परिवर्तन नहीं होता।

यदि किसीको उस सत् वस्तुमें भूलसे विपरीतता प्रतीत होती हो तो यह उसकी भ्रान्ति है। इससे सत् वस्तुमें कोई कलंक नहीं आता, जैसे किसीको नेत्रोंके दोषसे चन्द्रमा पीतवर्ण प्रतीत होता हो तो इससे चन्द्रमा पीला नहीं समझा जा सकता। चन्द्रमा तो पीतवर्णके दोषसे रहित शुद्ध और श्वेत ही है।

जो वस्तु सत् होती है, उसका कभी अभाव नहीं होता। जिसका कभी किसी कालमें अभाव नहीं होता वही वस्तु सत्य है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी सत्‌के लक्षण करते हुए गीतामें इस प्रकार कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२।१६)

****

'असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं होता है और सत्का अभाव नहीं है, इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

ऐसी सत् वस्तु एक विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा है जो परमेश्वर, ब्रह्म, पुरुषोत्तम, अल्लाह, खुदा, गॉड आदि अनेक नामोंसे संसारमें माना गया है। सबके परिवर्तित होनेपर भी उसमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन होनेवाले पदार्थ परिवर्तन होते-होते जिसमें जाकर शेष हो जाते हैं, जिसको सब लोग नित्य, ध्रुव, सत्य कहते हैं और जो सबका द्रष्टा है उसीको हम ईश्वर मानते हैं। तर्कसे बाध करनेपर भी जिसका बाध नहीं होता और जो विज्ञानवान् पुरुषोंद्वारा निर्णय किया हुआ सत् पदार्थ है उसीका नाम परमात्मा है। उसको चित्-शक्ति या चेतन-तत्त्व भी कहते हैं।

संसारमें दो पदार्थ हैं—एक चेतन और दूसरा जड। उनको पुरुष और प्रकृति भी कहते हैं। चेतनके दो भेद हैं—एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा। उनमें जीवात्मा अंश है, परमात्मा अंशी है। जीवात्मा नाना और परमात्मा एक है। यह चौबीस तत्त्वोंवाला संसार जड है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

(गीता १३।५)

'पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय—ये चौबीस तत्त्व हैं।'

जो जड है वह दृश्य है। जो चेतन है वह द्रष्टा है। जडको ज्ञेय और चेतनको ज्ञाता भी कहते हैं। वह ज्ञेय ज्ञाताके ही आधारपर है। भगवान्ने कहा है—

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।

(गीता ७।५)

'जीवस्वरूप चेतन प्रकृतिके द्वारा यह सारा संसार धारण हो रहा है।'

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०।४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

जड अल्प है, चेतन अनन्त है। जड उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाला है, चेतन अजन्मा, नित्य, अविनाशी है। जडमें हर समय परिवर्तन होता रहता है, इसलिये उसको क्षणभङ्गुर भी कहते हैं। चेतनमें परिवर्तन नहीं होता तो भी मूढ़ बुद्धिवालोंको भ्रान्तिके कारण जडके सम्बन्धसे चेतनमें परिवर्तन भासित होता है, परन्तु विचार करनेपर नहीं ठहरता, जैसे निर्लेप आकाशमें अपने नेत्रोंके दोषसे मोरपक्षकी भाँति प्रतीत होनेवाले तिरवरोंका होना विचारसे सिद्ध नहीं होता।

परमात्मा कल्पित नहीं, ध्रुव सत्य है। यह बात सब शास्त्रोंसे भी सिद्ध होती है। ध्रुव, प्रह्लाद-सरीखे भक्तोंकी आख्यायिकाएँ यह बिलकुल प्रमाणित कर देती हैं। जैसे—खम्भमेंसे प्रकट होकर नृसिंह भगवान्का हिरण्यकशिपुको मारना, प्रह्लादकी रक्षा करना और प्रह्लादको शिक्षा देना। जैसे ध्रुवको वनमें दर्शन देना और उसको दिये हुए वरदानके अनुसार उसकी प्रत्यक्ष सिद्धि होना। ध्रुवको राज्य मिल जाना और बिना पढ़े ही केवल भगवान्के शंखके स्पर्शमात्रसे श्रुति-स्मृतिका ज्ञान हो जाना। इस प्रकारका कार्य किसी कल्पित ईश्वरसे सिद्ध नहीं हो सकता।

ऐसी कथाएँ श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्रोंमें अनेकों मिलती हैं। ये सब ऐतिहासिक सच्ची घटनाएँ हैं। कपोलकल्पित नहीं हैं। इन सबको उपन्यासोंकी भाँति कल्पित समझना अत्यन्त भूल है। बिना हुई घटनाओंका इस प्रकार प्रचार होना तथा अनेक युगोंसे इतिहासरूपमें श्रद्धासहित उनका प्रचलित होना सम्भव नहीं।

****

आधुनिक कालमें भी सूरदास, तुलसीदास, तुकाराम, नरसी, चैतन्य महाप्रभु और मीराबाई आदि अनेक भक्त महात्मा हो गये हैं। उन महापुरुषोंके वचनोंसे भी ईश्वरका अस्तित्व इतिहाससहित सिद्ध है। ऐसे पुरुषोंकी जीवनीमें और उनके वचनोंपर सर्वथा अविश्वास करना अपनी बुद्धिका परिचय देना है। उन महापुरुषोंके जीवनकी जो घटनाएँ हैं उनपर विचार करनेसे ईश्वरके अस्तित्वमें उत्तरोत्तर श्रद्धा बढ़ती है। ऐसे त्यागी और सच्चे पुरुषोंपर अविश्वास करना और यह कहना कि दुनियाको धोखा देनेके लिये उन्होंने ये बातें फैला दीं, उनपर कलंक लगाना है। ऐसे पुरुषोंपर कलंक लगानेवाले अज्ञानियोंके लिये तो फिर कोई भी विश्वासका आधार नहीं ठहरता।

ईश्वरकी सिद्धिमें अनेकों बलवान् युक्तियाँ भी प्रमाण हैं। विचार करके देखा जाय तो ईश्वरके अस्तित्वको पशु और पक्षी भी सिद्ध करते हैं। फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? जब कोई पुरुष लाठी लेकर कुत्तेको मारने जाता है तो वह कुत्ता दूरसे ही उस लाठीको देखकर चिल्लाता है। अभी उसके चोट नहीं लगी, न उसके शरीरमें कोई पीड़ा ही होती है; परन्तु आनेवाले भयको देखकर वह चिल्ला उठता है। उसके चिल्लानेका मतलब यही है कि मेरे चिल्लानेसे आनेवाले दुःखकी निवृत्ति हो जायगी। क्योंकि मेरी चिल्लाहटको सुनकर रक्षा करनेवाली शक्ति मेरी रक्षा करेगी। इस प्रकार चिल्लानेसे उस कुत्तेकी रक्षा होती हुई भी देखनेमें आती है।

जिस दयामयी शक्तिका सभी चराचर जीव आसरा लेकर दुःख मिटानेके लिये करुणाभावसे आर्तनाद करते हैं और जिस दयामयी शक्तिसे दुखियोंका दुःख मिटता है, उस शक्तिशालीको हम परमात्मा मानते हैं।

जो ईश्वरको नहीं मानते हैं, वे पुरुष भी जब उनपर भारी विपत्ति पड़ती है तब किसी एक शक्तिका आश्रय करके अपनी विपत्तिके नाशके लिये दीन होकर करुणापूर्ण वचनोंका उच्चारण करते हैं। वे जिस शक्तिके आश्रयसे अपना दुःख मिटाना चाहते हैं, जिस शक्तिको मानकर दीनता स्वीकार करते

हैं और जिस शक्तिके द्वारा उनकी दीनतासे की हुई माँग पूरी होती है, उन लोगोंको भी उस शक्तिशाली चेतन दयासिन्धु दीनबन्धुको ईश्वर समझकर कृतज्ञ होना चाहिये।

वर्तमानमें भी जो पुरुष ईश्वरमें विश्वास करके और उनकी शरण होकर प्रयत्न करते हैं उनको भी सफलता मिली है और मिल रही है। बिना हुई वस्तुके अस्तित्वका प्रचार होना सम्भव नहीं है। यदि हो भी जाय तो उसकी इतनी स्थिर स्थिति नहीं रह सकती।

संसारमें जो भी कुछ प्रतीत होता है उसके मूलमें अवश्य ही कोई महान् शक्ति है। प्रतीत होनेवाले पदार्थका परिवर्तन माना जा सकता है परन्तु अभाव नहीं। क्योंकि बिना हुई वस्तुका अस्तित्व सम्भव नहीं है। जो सम्पूर्ण संसारका आधार है, जिसको मूल कारण भी कहा जा सकता है, उसीको ईश्वर समझना चाहिये। क्योंकि कार्यके मूलमें अवश्य कारण रहता है। कोई भी कार्य बिना कारणके देखनेमें नहीं आता। कोई भी पदार्थ बिना आधारके नहीं रह सकता, अतएव इस सम्पूर्ण संसारका जो आधार और मूल कारण है वह परमात्मा है। वह चेतन है, क्योंकि जड पदार्थमें नियमितरूपसे यथायोग्य विभाग और सञ्चालन करनेकी और उसको नियममें रखनेकी योग्यता नहीं होती। परमात्मा केवल युक्ति और शास्त्र-प्रमाणसे ही सिद्ध हों, सो बात नहीं, वह प्रत्यक्ष भी हैं। क्योंकि उनकी प्राप्तिके लिये जिन्होंने यत्न किया है उनको वे मिले हैं, मिल रहे हैं, अब भी किसीको उनका प्रत्यक्ष करना हो तो वह शास्त्रोक्त साधनोंके द्वारा प्रत्यक्ष कर सकता है। जिन पुरुषोंको प्रत्यक्ष हुआ है, उनके बताये हुए साधनके अनुसार चेष्टा करनेसे भी चेष्टा करनेवालोंको प्रत्यक्ष होता है। अवश्य ही ऐसी अमूल्य वस्तुके लिये जितने प्रयत्नकी आवश्यकता है उतना प्रयत्न होना चाहिये। साधारण वस्तुको प्राप्त करनेमें साधारण प्रयत्न करना पड़ता है, एक विशेष वस्तुके लिये विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता है। किसी देशके बादशाह विलायतमें हैं। यदि कोई उनसे प्रत्यक्ष मिलना चाहे तो

विलायत जाकर मिलनेके लिये उचित चेष्टा करनेपर मिलना हो सकता है। यदि किसी कारणसे न भी जाना हो तो उसको यह तो समझ लेना चाहिये कि बादशाह विलायतमें हैं; क्योंकि दूसरे मिलनेवालोंसे सुना जाता है और राज्यकी व्यवस्था भी उनके आज्ञानुसार नियमानुकूल होती देखी जाती है। इसी प्रकारसे उस असंख्य ब्रह्माण्डोंके मालिकसे कोई मिलना चाहे तो उसीके अनुसार प्रयत्न करनेसे उसका मिलना सम्भव है। किसी राजासे तो मिलना चाहनेपर मिलना हो भी सकता है और नहीं भी, क्योंकि राजा प्रायः स्वार्थी होते हैं और बिना प्रयोजन मिलना नहीं चाहते। परन्तु सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद् एवं बिना कारण दया करनेवाले भगवान्‌की तो यह नीति है कि जो भी कोई उनसे मिलना चाहे वे उससे मिलते ही हैं। वे कहते हैं—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

राजाके मिलनेके लिये थोड़ा प्रयत्न करके छोड़ देनेसे किया हुआ प्रयत्न व्यर्थ भी हो जाता है; परन्तु ईश्वरके लिये किया हुआ थोड़ा-सा भी प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'** ईश्वरके लिये किये हुए कर्मका नाश नहीं होता। ईश्वरका मिलना भी राजासे मिलनेकी अपेक्षा बहुत ही विलक्षण है। **'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्।'**

इन्द्रियों और मन-बुद्धिके द्वारा प्रत्यक्ष की हुई वस्तुकी अपेक्षा आत्मानुभवसे प्रत्यक्ष की हुई वस्तुमें अत्यन्त विशेषता होती है। क्योंकि इन्द्रियाँ और अन्तःकरण अल्पशक्तिवाले होनेके कारण वस्तुका यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते। जैसे विमान, पक्षी आदि बहुत दूरमें स्थित वस्तु नेत्रोंसे नहीं दीखती, अञ्जन नेत्रोंके अत्यन्त समीप होनेपर भी नहीं दीखता, तारे दिनमें आकाशमें स्थित होते हुए भी सूर्यके प्रकाशसे तिरोहित होनेके कारण नहीं दीखते, रात्रिके समय सूर्य पृथ्वीकी ओटमें आ जानेके कारण नहीं दीखता इत्यादि। सूर्यकी किरणोंमें जलके परमाणु रहते हैं; परन्तु सूक्ष्म होनेके कारण नेत्रोंसे प्रतीत नहीं होते और बहुत-से विषय इन्द्रियोंके खराब हो जानेके कारण

नहीं प्रतीत होते। जैसे बहिरेको शब्दका न सुनना, अन्धेको रूपका न दीखना इत्यादि। इन्द्रियाँ मिले हुए सजातीय पदार्थोंको भी अलग-अलग करने और पहचाननेमें असमर्थ हैं, जैसे गाय और बकरीके दूधको मिला देनेपर वह न अलग ही किया जा सकता है और न पहचाना ही जा सकता है। बहुत-से ऐसे पदार्थ हैं जहाँ इन्द्रियोंकी गम्य ही नहीं है। जैसे मनुष्यमें मन-बुद्धि होते हैं परन्तु वे इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष नहीं होते। मन-बुद्धिका ज्ञान भी अल्प और भ्रान्त है। किसी एक मनुष्यको आज हम बुद्धिके द्वारा धर्मात्मा समझते हैं, फिर उसीको थोड़े दिन बाद पापी समझने लग जाते हैं, एक मनुष्य कथा बाँच रहा है और बहुत-से मनुष्य कथा सुन रहे हैं। सुननेवालोंका उस पुरुषपर अपना-अपना अलग-अलग निश्चय है। कथा बाँचकर चले जानेपर श्रोतागण परस्पर विचार करने लगते हैं। एक कहता है कि पण्डितजी दम्भी हैं, क्योंकि ये दूसरोंको उपदेश देते हैं और स्वयं पालते नहीं। दूसरा कहता है दम्भी तो नहीं हैं परन्तु स्वार्थी हैं, कोई भेंट चढ़ाता है तो उसको बड़ी प्रसन्नतासे ले लेते हैं। तीसरा कहता है पण्डितजी भेंटके लिये कथा नहीं बाँचते , यह बात जरूर है कि वे मान-बड़ाई चाहते हैं। चौथा कहता है—भेंट और पूजा तो इनको श्रोताओंकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार करनी पड़ती है, असलमें तो इनका कथा करना इसलिये है कि श्रोताओंके सम्बन्धसे भगवच्चर्चा करनेसे मेरी आत्मा भी पवित्र हो जायगी। इस उद्देश्यसे पण्डितजी अपने और श्रोताओंके कल्याणके लिये कथा करते हैं। एक परम श्रद्धालु कहता है कि पण्डितजी तो स्वयं कल्याण-स्वरूप हैं; हमलोगोंके कल्याणके लिये ही इनकी सम्पूर्ण क्रिया है।

अब विचारणीय विषय यह है कि एक ही देशमें, एक ही कालमें, एक ही पुरुषद्वारा और एक ही क्रिया हो रही है, उसमें भी लोग अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार भिन्न-भिन्न निश्चय कर रहे हैं। हो सकता है कि इन पाँचोंमेंसे किसी एकका निश्चय ठीक हो परन्तु चारकी गलती अवश्य ही माननी पड़ेगी। इससे यह बात निश्चय हुई कि बुद्धिद्वारा किया हुआ निर्णय भी ठीक नहीं समझा जा सकता।

***

एक मनुष्य किसी एक मजहबको अच्छा समझता है, फिर थोड़े दिनके बाद वही उसको खराब समझकर दूसरेको अच्छा समझने लग जाता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जबतक मन-बुद्धि पवित्र नहीं हो जाते तबतक उनका किया हुआ निर्णय भी यथार्थ नहीं समझा जा सकता। इस विषयमें बहुत बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी चक्करमें पड़ जाते हैं; फिर एक साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है। जिन पुरुषोंकी आत्मा पवित्र है, जिन्होंने आत्मासे परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है उन पुरुषोंका जो निर्णय है वही ठीक है। जबतक परमात्माका साक्षात्कार नहीं होता तबतक अज्ञानी पुरुषोंको तो अपने-आपके नित्य अस्तित्वके विषयमें भी अनेक प्रकारकी शङ्काएँ होती हैं। फिर ईश्वर, लोक, परलोक, शास्त्र और महात्माओंमें शङ्का होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है।

शङ्का, विचार, श्रद्धा और निर्णयादि मन-बुद्धिमें होते हैं। मन-बुद्धि परिवर्तनशील होनेके कारण श्रद्धा और विचार आदिमें भी समय-समयपर परिवर्तन होता रहता है।

स्वप्नमें मनुष्य निद्राके दोषसे अनेक प्रकारके पदार्थोंको देखता है, उनको वह पुरुष उस कालमें प्रत्यक्ष और सत्य मान लेता है; परन्तु जागनेके बाद उनका अत्यन्त अभाव देखकर असत् मानता है। इसी प्रकारसे जाग्रत्-अवस्थामें भी अज्ञानके कारण असत्में सत्-बुद्धि कर लेता है। इसलिये मन और बुद्धिके पवित्र और स्थिर हुए बिना उनका किया हुआ अनुमान और निश्चय ठीक नहीं समझा जाता। साधनोंके द्वारा जब मन और बुद्धि पवित्र हो जाते हैं तभी उनका किया हुआ निर्णय यथार्थ होता है।

बुद्धिके द्वारा निर्णय किये हुए पदार्थोंकी प्रत्यक्षताकी अपेक्षा भी आत्मानुभवके द्वारा निर्णय किये हुए पदार्थोंकी प्रत्यक्षता विशेष है। जैसे पुरुष अपने अस्तित्वके विषयमें समझता है कि मैं निश्चय हूँ, इस निश्चयका तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान), तीनों अवस्था (कुमार, युवा, जरा), (जाग्रत्

स्वप्न, सुषुप्ति) और तीनों शरीर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) में कभी भी अभाव नहीं होता। जो बात तीनों कालमें है वही सत्य है। स्वयं अपनी आत्मा तीनों कालमें होनेके कारण नित्य सत्य है। इस सत्यका किया हुआ अनुभव ही सत्य है। परमात्माका प्रत्यक्ष अनुभव आत्मासे ही हो सकता है। जब आत्माका सम्बन्ध मन-बुद्धिसे छूटकर परमात्मामें जुड़ जाता है तभी आत्मा परमात्माका यथार्थरूपमें अनुभव करता है। वही असली अनुभव है। उसमें भूल नहीं हो सकती। अतएव आत्मानुभवकी प्रत्यक्षताके समान मन-बुद्धिकी प्रत्यक्षता नहीं समझी जाती। जिन पुरुषोंको परमात्माका यथार्थ अनुभव हुआ है, उन पुरुषोंका ऐसा कथन पाया जाता है।

तीनों शरीरोंमें, तीनों अवस्थाओंका हर समय परिवर्तन होनेपर भी तीनों अवस्था और तीनों कालमें आत्मा निर्विकाररूपमें सदा एकरस रहता है। इसी प्रकारसे एक शरीरसे दूसरे शरीरकी प्राप्तिमें भी आत्माका परिवर्तन नहीं होता।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें कुमार, युवा और वृद्ध-अवस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, इस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।' भगवान् कहते हैं—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

(गीता १५। १०-११)

'शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको और विषयोंको भोगते हुएको अथवा तीनों गुणोंसे युक्त हुएको अज्ञानीजन नहीं

जानते। केवल ज्ञानरूप नेत्रवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं, योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित हुए इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं और जिन्होंने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते।'

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि कुमार, युवा और जरावस्थामें देहके विकारसे आत्मा विकारी नहीं होता। इसी प्रकारसे देहान्तरकी प्राप्तिसे भी आत्मा विकारी नहीं होता। अतएव आत्मा अविकारी है और जो अविकारी है वही नित्य है। जो नित्य है वही सत्य है। वह सत्य ही परमात्मा है और परमात्मा ही सबकी आत्मा है; क्योंकि आत्मा ईश्वरका अंश होनेके कारण सबकी आत्मा परमात्मा ही है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(गीता १०।२०)

'हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।' अतएव परमात्मा निर्विकार, अजन्मा, अविनाशी, नित्य, ध्रुव सत्य प्रमाणित हैं।

(२) ईश्वरके दण्डविधानमें भी दया है।

भगवान् दयाके असीम, अनन्त, अथाह सागर हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, उसमें जीवोंके प्रति दया भरी रहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे अन्याय करते हैं या उनकी दया लोगोंको पाप करनेमें सहायक होती है; बात यह है कि उनका कानून ही ऐसा है जो लोगोंको पापसे बचाता है और दण्ड या पुरस्काररूपसे जो कुछ भी विधान करता है, उसमें उनकी दया पूर्णरूपेण रहती है। घरमें माता-पिता और राष्ट्रमें राजा आदिके जो नियम या कानून होते हैं उनमें भी दया रहती है परन्तु वह दया परिमित है, उसमें कहीं स्वार्थ भी र[illegible]

सकता है अथवा भ्रान्तिवश ऐसा विधान भी हो सकता है जो लोगोंके लिये अहितकर हो। राग-द्वेष, अहंकार और अल्पज्ञताके कारण भूल भी हो सकती है, परन्तु श्रीभगवान्में ऐसी कोई बात नहीं है। इसीसे उनका कानून निर्भ्रान्त, शंकारहित, ज्ञानपूर्ण और स्नेहपूरित रहता है। जो मनुष्य ईश्वर-कृपासे श्रीभगवान्के कानूनका रहस्य समझ लेता है, वह तो फिर अपना जीवन उसीके अनुसार चलनेमें लगा देता है। उसमें ईश्वर-प्रेम, निर्भयता, शान्ति और आनन्दकी उत्तरोत्तर अपार वृद्धि होती है और अन्तमें वह श्रीभगवान्को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। अब यह समझना है कि भगवान्के कानूनका स्वरूप क्या है? विचार करनेपर मालूम होता है कि भगवान्की विधिका प्रधान लक्ष्य है—

जीवमात्रकी सर्वांगीण उन्नति और उन्हें परम श्रेयकी प्राप्ति

इसी लक्ष्यतक जीव आसानीसे पहुँच सके, इसीके लिये उनके नियम हैं। उन नियमोंका पालन वास्तवमें उसी मनुष्यके द्वारा सुगमतासे हो सकता है जो ईश्वरमें परम श्रद्धा और परम प्रेम रखता हो। ईश्वरमें परम श्रद्धा और परम प्रेम होनेपर स्वाभाविक ही मनुष्यमें सदाचार और सद्गुणोंकी उत्पत्ति और उनका विकास होता है एवं दुराचार और दुर्गुणोंका सर्वथा विनाश हो जाता है। शास्त्रोंमें जिन्हें सदाचार बतलाया है, वे ही ईश्वरीय कानूनमें सेव्य और पालनीय नियम हैं और जिन्हें दुराचार कहा है, वे ही ईश्वरीय कानूनके निषिद्ध और त्याज्य पदार्थ हैं। संक्षेपमें सदाचार, सद्गुण और दुराचार, दुर्गुणोंका स्वरूप यह है—

अहिंसा, सत्य, तप, त्याग, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, यज्ञ, दान, सेवा, पूजा और महापुरुषोंके आज्ञापालन आदि सदाचार हैं।

दया, पवित्रता, शम, दम, समता, क्षमा, धैर्य, प्रसन्नता, ज्ञान, वैराग्य और निरभिमानता आदि सद्गुण हैं।

हिंसा, असत्य, चोरी, जारी, अभक्ष्य-भक्षण, मादक वस्तु-सेवन, प्रमाद, निन्दा, द्यूत और कटुभाषण आदि दुराचार हैं।

****

काम, क्रोध, लोभ, अविवेक, अभिमान, दम्भ, मत्सरता, आलस्य, भय और शोक आदि दुर्गुण हैं।

सदाचारसे सद्गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा सद्गुणोंसे सदाचारकी उत्पत्ति-वृद्धि होती है, इसी प्रकार दुराचारसे दुर्गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा दुर्गुणोंसे दुराचारकी उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। ये बीज-वृक्षकी-ज्यों अन्योन्याश्रित हैं।

सदाचार और सद्गुणोंका सेवन ही ईश्वरीय कानूनको मानना है और दुराचार और दुर्गुणोंका सेवन ही उस कानूनका भंग करना है। ईश्वरके कानूनको माननेवाला पुरस्कारका पात्र होता है और कानूनको तोड़नेवाला दण्डका पात्र होता है। अवश्य ही उनका दण्ड भी दयासे ओतप्रोत है, इस विषयपर आगे चलकर विचार करना है। यहाँ तो गम्भीरताके साथ यह विचार करना चाहिये कि भगवान्के इस कानूनमें कितनी दया—अपरिमित दया भरी है। संक्षेपमें विचार कीजिये। अहिंसाके पालनसे मनुष्य निर्वैर और निर्भय हो जाता है, सत्यके पालनसे सत्यको प्राप्त होता है, चोरी न करनेसे विश्वासका पात्र होता है, ब्रह्मचर्यके सेवनसे उसके तेज और पराक्रममें वृद्धि होती है। परिग्रहके त्यागसे ज्ञान बढ़ता है, यज्ञ-तपसे इन्द्रियोंपर विजय और अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। त्याग, सेवा और महापुरुषोंके आज्ञा-पालनसे सम्पूर्ण दोषोंका नाश, शम-दमादि समस्त सद्गुणोंका आविर्भाव और वृद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इस सदाचारके पालनसे लोक-परलोकमें कितना अपरिमित लाभ होता है, यह ईश्वरके कानूनकी ही महिमा है।

अज्ञानके कारण मनुष्य काम-क्रोध-लोभादिके वश होकर असत्य, कपट, चोरी-जारी आदि कुकर्म करके अपना और संसारके जीवोंका अहित करता है। इन दुराचारों और दुर्गुणोंसे अपनी और जगत्की बड़ी हानि होती है, सबके सुख-शान्तिका नाश हो जाता है। इसी अधःपतनसे बचानेके लिये भगवान्

इनको निषिद्ध और त्याज्य बतलाया है। इस निषेधकी आज्ञामें भी उनकी दया भरी है। जो मोहवश भगवान्‌की निषेधाज्ञाको न मानकर कानून-भंगरूपी पाप करते हैं, उनके लिये दयापूर्ण दण्डकी व्यवस्था की गयी है। श्रीभगवान्‌के कानूनमें प्रधानतया जो दण्ड दिया जाता है, उसका स्वरूप यह है—

प्राप्त-विषय-भोगोंका नाश कर देना, भविष्यमें विषय-भोगोंकी प्राप्ति न होने देना या कम होने देना, अथवा विषय-भोगमें अक्षम बना देना।

विचार कीजिये, इस दण्ड-विधानमें कितनी दया भरी है—भोगोंके संसर्गसे कितनी हानि होती है, इसका निम्नलिखित कुछ बातोंपर विचार करनेसे पता लगेगा—

(क) विषयोंके भोगसे आदत बिगड़ती है।

(ख) विषय-भोगोंमें रत मनुष्य ईश्वरकी प्राप्तिके मार्गपर आरूढ़ नहीं हो सकता तथा आरूढ़ हुआ गिर जाता है।

(ग) विषय-भोगोंकी अधिकतासे बीमारियाँ होती हैं, शरीर-सुखका नाश होता है, शरीर क्षयको प्राप्त होता है।

(घ) मन दुर्बल होता है, अन्तःकरण अशुद्ध होता है।

(ङ) विषय-सुख केवल भ्रमसे ही देखनेमें सुख-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः वह परिणाममें दुःखरूप है।

(च) विषय-सेवनसे पुण्योंका नाश और पापोंकी वृद्धि होती है।

(छ) बिना आरम्भके विषयोंका उपभोग नहीं होता, हिंसा बिना आरम्भ नहीं होता, हिंसासे संसारकी हानि और कर्ताको नरककी प्राप्ति होती है।

ऐसे दुःखरूप विषयोंके संयोगको नाश कर देना, भविष्यमें प्राप्त न होने देना या उन्हें घटा देना एक प्रकारसे वर्तमान और भावी दुःखोंकी प्राप्तिसे बचा लेना है। जैसे आगमें पड़ते हुए पतंगके सामनेसे दीपक हटा लेना या उसको बुझा देना, अथवा उसके पास आते हुए पतंगोंके मार्गमें रुकावट डालना उनपर दया करना है, इसी प्रकार ईश्वर दण्डविधानके रूपमें जीवोंको विषय-

भोगसे वञ्चित करके उनपर महान् दया करते हैं।

कभी-कभी ईश्वर जीवके पूर्व-पापोंके कारण उनके स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुओंका वियोग न कराकर उनके द्वारा उसकी इच्छाके विरुद्ध इस प्रकारके आचरण करवाते हैं, जिनसे उसको दुःखरूप फल मिलता है। इसमें पापका फल दुःख भोगनेसे पापका नाश तो है ही, साथ ही स्त्री-पुत्रादिके मनके विपरीत आचरण करने या उनके द्वारा अपमानित होनेसे उनके प्रति मनमें स्नेह-ममता हटकर एक प्रकारकी विरक्ति उत्पन्न होती है, विरक्तिसे चित्तकी वृत्ति उपराम होकर किसी-किसीको तो परमात्माके मार्गमें लग जानेके कारण शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

किसी-किसीको पापोंके फलस्वरूप ईश्वर बीमारी आदि देते हैं, जिससे दुःखी हुआ मनुष्य करुण-स्वरमें आर्तनाद करता है, कोई-कोई तो आर्त होकर भगवान्से दुःखनिवारणार्थ गजराजकी भाँति प्रार्थना करते हैं। जिसके द्वारा वे दुःखसे मुक्त तो होते ही हैं साथ ही भगवान्की भक्ति भी पा जाते हैं।

पापोंके फलस्वरूप किसी-किसीकी श्रीभगवान् मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका नाश कर देते हैं, इससे उसका वस्तुतः बड़ा ही उपकार होता है। क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका रोग बहुत अच्छे-अच्छे बुद्धिमान् पुरुषोंको भी पतनके गढ़ेमें डाल देता है। अज्ञानी जीव मान-बड़ाईरूपी जहरीले भावोंको सुन्दर सुहावने समझकर उनसे लिपटे रहते हैं। दयामय परमात्मा दया करके उनके कल्याणके लिये इनका नाश करते हैं। मान-बड़ाईके सुखका नाश करना एक प्रकारसे शापके रूपमें महान् वरदान है। क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिके मार्गकी मान-बड़ाईरूपी भारी बाधा इससे हट जाती है।

किसी-किसीके पूर्व-पापोंके फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्राका निर्वाह भी कठिनतासे होता है। उसे पर्याप्त अन्न-वस्त्र नहीं मिलता, इससे वह दुःखी और आर्त होकर भगवान्को पुकारता है। इसके सिवा वह आलस्य और अभिमान-को त्यागकर—अकर्मण्यता और अहंकारको छोड़कर अनेक प्रकारके परिश्रम

और उद्यम करनेको तैयार हो जाता है, जिससे उसकी अकर्मण्यता मिटती है, झूठा बड़प्पन, आलस्य और अभिमान नष्ट होता है।

इस प्रकार ईश्वरके प्रत्येक दण्ड-विधानमें ईश्वरकी अपार दया भरी है। जैसे रत्नोंके गहरे समुद्रमें डुबकी लगानेसे एक-से-एक बढ़कर रत्न मिलते हैं, वैसे ही विचारद्वारा श्रीभगवान्‌के दण्ड-विधानरूपी दयाके सागरमें डुबकी लगानेपर इस लोक और परलोकके हितकारक अनेक अमूल्य रत्न मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरका कानून और उसका दण्ड-विधान दयासे परिपूर्ण है।

संसारमें अनुकूल और प्रतिकूल दो पदार्थ हैं। मनुष्य अपने अनुकूल पदार्थकी प्राप्तिमें ईश्वरकी दया समझता है, सुख-शान्तिको प्राप्त होता है तथा उस पदार्थसे प्रेम करता है। प्रतिकूलमें मूर्खताके कारण ईश्वरका कोप समझता है, अशान्ति और शोकको प्राप्त होता है एवं उससे द्वेष करता है। परन्तु जो पुरुष उस सर्वशक्तिमान् दयामय सर्वज्ञ परम सुहृद् परमात्माके तत्त्वको जानता है, वह शोक और मोहसे तरकर परम शान्ति और निर्भयताको प्राप्त हो जाता है। ईश्वरके कानूनका रहस्य समझकर तो मनुष्य उसपर मुग्ध हो जाता है। ईश्वरका प्रत्येक नियम पापियोंके पाप और दुखियोंके दुःखको नाश करनेवाला है। वह पापोंकी वृद्धिमें सहायक नहीं है, जो पुरुष तत्त्व समझे बिना ही ईश्वरको दयालु समझकर ईश्वर-दयाके भरोसेपर नये-नये पापाचरण करता है, उसके पाप तो इतने वज्रलेप हो जाते हैं कि फिर वे जप, ध्यान आदि प्रायश्चित्तोंसे भी भोगे बिना प्रायः नाश नहीं होते। बल्कि भजन-ध्यान होनेमें भी वे पाप प्रतिबन्धकरूप हो जाते हैं।

ईश्वरकी दया और न्यायके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें अपरिमित सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, उनका वह दर्शन उन अज्ञोंकी अपेक्षा, जो विषय-भोगोंकी प्राप्तिमें सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, अत्यन्त ही विलक्षण होता है। वे समझते हैं कि—

****

१-यह अपने परम प्रेमी न्यायकारी दयालु ईश्वरका किया हुआ विधान है।

२-प्रतिकूल पदार्थ, जो जगत्‌की दृष्टिमें दुःख कहलाते हैं, प्राप्त होते हैं, तब पापोंके ऋणानुबन्धसे मुक्ति मिलती है।

३-व्याधि आदिको परम तप समझकर भोगनेसे पापोंका नाश होता है, अन्तःकरण स्वर्ण-सदृश विशुद्ध और निर्मल हो जाता है।

४-भविष्यमें निषिद्ध पापकर्म न करनेकी ईश्वरीय आज्ञाका पालन करनेमें सावधानी होती है, इससे आगामी पापोंका नाश हो जाता है। भोगसे पूर्वकृत पापोंके प्रारब्धका नाश हो गया, वर्तमानमें तप समझकर पापोंका फल भोगनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो गया, वर्तमानमें पाप नहीं हुए और सञ्चित पापोंका नाश हुआ तथा निषिद्ध कर्मोंके त्यागसे भविष्यके पाप मिट गये, इस प्रकार वह पापोंसे सर्वथा रहित होकर परमात्माका प्रेमी बन जाता है। आपत्तिकालमें आस्तिक पुरुषोंको ईश्वरकी स्मृति अधिक होती है, ईश्वर-स्मरणसे बढ़कर ईश्वर-प्राप्तिका कोई सुलभ साधन दूसरा नहीं है, इसीलिये तो किसी भक्तने कहा है—

सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल पल नाम जपाय॥

अतएव हम सबको श्रीभगवान्‌के कानूनका रहस्य समझकर उसके अनुसार चलना चाहिये। माता, पिता, गुरु और स्वामी आदिके कानूनके अनुकूल चलनेसे उनके अधिकारमें जो परिमित पदार्थ हैं, वही हमें मिल सकते हैं, परन्तु दयामय ईश्वरके क़ानूनके अनुकूल चलनेसे हम समस्त पापोंसे मुक्त होकर परमात्माके उस परमपदको प्राप्त हो सकते हैं जो मनुष्य-जीवनका सर्वोपरि प्रधान उद्देश्य है।

(३) ईश्वर-प्रेम ही विश्व-प्रेम है

ईश्वर अनन्त और असीम हैं, चराचर विश्व ईश्वरके एक अंशमें उनके

संकल्पके आधारपर स्थित है। ईश्वर अपनी योगमायाके प्रभावसे विश्वकी रचना और उसका विनाश करते हैं। जब ईश्वर संकल्प करते हैं, विश्व उत्पन्न हो जाता है और जब संकल्पका त्याग करते हैं तब विश्व नष्ट या तिरोहित हो जाता है। स्वप्न-स्थित पुरुष जिस प्रकार अपने अंदर संकल्पबलसे स्वप्न-सृष्टिकी रचना करता है, उसी प्रकार ईश्वर आत्मरूपमें व्याप्त रहते हुए ही संसारको रचते हैं। भेद इतना ही है कि स्वप्नद्रष्टा पुरुष अज्ञानमें स्थित और पराधीन होता है; परन्तु ईश्वर ज्ञानस्वरूप और सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है। अतएव उन अनन्त चेतन परमेश्वरके किसी एक अंशमें यह संसार वैसे ही प्रतिभासित है जैसे अनन्त आकाशके किसी एक देशमें तारा चमकता है। आकाशकी तुलना केवल समझानेके लिये है, वस्तुतः आकाशकी अनन्तता अल्प है और वह देश-कालसे परिमित है, पक्षान्तरमें परमेश्वरकी अनन्तता उनके देश-कालसे रहित होनेके कारण सर्वथा अपरिमित है, आकाशकी अनन्तता तो उसी प्रकार परमेश्वरके संकल्पके एक अंशके अन्तर्गत है जिस प्रकार स्वप्नकी सृष्टि स्वप्नद्रष्टा पुरुषके संकल्पके एक अंशके अन्तर्गत होती है। ईश्वरकी अनन्तता किसी भी सांसारिक दृष्टान्तसे नहीं समझायी जा सकती, क्योंकि ईश्वरके सदृश संसारमें कोई पदार्थ है ही नहीं। यह समस्त अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड परमात्माके एक रोममें स्थित है, वास्तवमें जिन ईश्वरका यहाँ वर्णन किया जाता है, वे निरवयव होनेके कारण रोमयुक्त नहीं हैं। पर क्या किया जाय, लौकिक बुद्धिको समझानेके लिये इन लौकिक पदार्थोंके अतिरिक्त और साधन ही क्या है? अतएव ईश्वरका कोई भी तत्त्व, जो किसी सांसारिक उदाहरणके द्वारा समझाया जाता है, वह उनका एक अंशमात्र ही होता है। वस्तुतः अंशमात्रका समझाना भी समीचीनरूपसे नहीं होता। इसलिये यही मानना पड़ता है कि ईश्वरके तत्त्वको समझना और समझाना अत्यन्त ही दुष्कर है, वह तो अनुभवरूप है, अति गम्भीर और रहस्यमय है, भगवत्कृपासे ही जाना जाता है। भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।

(२।२९)

'कोई (महापुरुष) ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों देखता है और वैसे ही दूसरा कोई (महापुरुष) ही आश्चर्यकी ज्यों (इसके तत्त्वको) कहता है।'

इस प्रकार जो महापुरुष ईश्वरके तत्त्वका अनुभव कर लेते हैं वे भी जब दूसरोंको सहजमें नहीं समझा सकते, तब औरोंकी तो बात ही क्या है ? समझाना वाणीका विषय है। बुद्धिके द्वारा ईश्वरके तत्त्वका जितना अनुभव होता है, उतना वाणी कह ही नहीं सकती और वास्तवमें तो ईश्वरका तत्त्व बुद्धिमें भी पूर्णरूपेण नहीं आ सकता। तथापि महापुरुषोंद्वारा जो कुछ कहा जाता है उससे उस तत्त्वका समझना सहज हो सकता है; परन्तु उनसे सुननेवाले मनुष्य भी श्रद्धा, प्रेम, एकाग्रता और बुद्धिकी तीक्ष्णता तथा पवित्रतामें कमी रहनेके कारण यथार्थ समझ नहीं पाते। इसी कारण यह विषय समझने-समझानेमें अत्यन्त ही कठिन है। परन्तु इतना समझ लेना चाहिये कि उस अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी अंशमें प्रकृति या माया है और उस मायाके किसी अंशमें यह समस्त चराचर विश्व है। इस अवस्थामें ईश्वरके प्रति किया जानेवाला प्रेम स्वाभाविक ही समस्त विश्वके प्रति हो जाता है। क्योंकि ईश्वर ही विश्वके आधार हैं, ईश्वर ही विश्वके आत्मा हैं, ईश्वर ही विश्वमें व्याप्त हैं और ईश्वर ही विश्वके एकमात्र (अभिन्न निमित्तोपादान) कारण हैं; वे अंशी हैं और यह समस्त विश्व उनका अंश है, या यों कहिये कि उनका अङ्ग है। श्रीभगवान्ने स्वयं अर्जुनसे कहा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

(गीता १०।४२)

'अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

भगवान्‌के उपर्युक्त वाक्योंका अभिप्राय समझ लेनेपर यह निश्चय हो जाता है कि यह समस्त जगत् भगवान्‌के एक अंशमें स्थित है, भगवान् ही इस जगत्-रूपसे अभिव्यक्त हो रहे हैं, ऐसी स्थितिमें भगवत्प्रेमीका स्वाभाविक ही जगत्‌के साथ अकृत्रिम प्रेम होता है। जिस मनुष्यने सोनेके तत्त्वको समझ लिया, उसका सोनेके आभूषणोंके साथ निश्चय ही प्रेम होता है, वह फिर कभी उनकी अवहेलना नहीं कर सकता, यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है; यदि करता है तो वह स्वर्णके तत्त्वको नहीं जानता, इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला परमात्म-प्रेमी पुरुष जगत्‌के जीवोंकी कदापि अवहेलना नहीं कर सकता।

जो मनुष्य किसी एक पूज्य पुरुषके सारे अङ्गोंकी श्रद्धा और प्रेमसे पूजा करता हो, वह उस पूज्य पुरुषके किसी एक उपाङ्गको जला दे या किसी एक अङ्गको काट डाले चाहे वह कितना ही छोटा हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि उसके लिये तो पूज्य पुरुषका प्रत्येक अङ्ग ही पूज्य और प्रिय होता है। इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला परमात्माका प्रेमी पुरुष अपने आराध्यदेव परमात्माके अंश या अङ्गरूप किसी जीवके साथ क्या कभी द्वेष कर सकता है, क्या कभी उसका अहित कर सकता है या उसको दुःख पहुँचा सकता है? कदापि नहीं। अतएव जो मनुष्य ईश्वरका प्रेमी है, वह स्वाभाविक ही विश्वका प्रेमी है। जैसे पूज्य पुरुषके सब अङ्गोंको प्रेमसे पूजकर भी जो उनके किसी एक अङ्गको जलाता है, वह भक्त, प्रेमी या सच्चा पुजारी नहीं है, वैसे ही भगवान्‌से प्रेम करनेवाला पुरुष भी यदि किसी भी जीवका किञ्चित् भी अहित करता है या उसे कष्ट पहुँचाता है तो वह न परमात्माका भक्त है, न प्रेमी है और न सच्चा पुजारी ही है। असलमें उसने परमात्माका तत्त्व ही नहीं समझा है।

तत्त्वका ज्ञाता तो विश्वका स्वाभाविक प्रेमी होगा ही, परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि केवल विश्वप्रेम ही ईश्वरप्रेम है; क्योंकि विश्वके परे भी

परमात्माका स्वरूप अनन्त और अपार है; विश्व उस परमात्माके एक अंशमें होनेके नाते विश्वप्रेम भी ईश्वरप्रेमके ही अन्तर्गत है। वस्तुतः विश्वसहित समग्र परमात्माके साथ होनेवाला प्रेम ही ईश्वरप्रेम है।

परमेश्वरकी दो प्रकृति हैं— एक जड और दूसरी चेतन। इन्हींको भगवान्‌ने गीतामें अपरा और परा प्रकृति कहा है। इनमें आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, मन, बुद्धि और अहंकार—ऐसे आठ प्रकारवाली अपरा प्रकृति जड है, जिसका यह चौबीस विकारोंवाला जड शरीर है और जीवात्मा परा प्रकृति है जिसको चेतन कहते हैं और जिसने उपर्युक्त अष्टधा अपरा प्रकृतिको धारण कर रखा है। शरीरयुक्त इस जीवके भी दो भेद हो जाते हैं—चर और अचर। मनुष्य, पशु पक्षी आदि चर हैं और वृक्ष-लता आदि अचर हैं; उपर्युक्त दोनों प्रकृतियोंसे संयुक्त संसारको ही विश्व कहते हैं; इस विश्वके साथ जो मनुष्य किसी हेतुको लेकर प्रेम करता है, वह भी ईश्वरके साथ ही प्रेम करता है, परन्तु उसका वह प्रेम क्षुद्र है। किसी भी हेतुसे किया जानेवाला प्रेम हेतुकी पूर्ति होनेके साथ ही समाप्त हो जाता है, इसीलिये वह देश-कालसे सीमित होने और फलकी अल्पताके कारण क्षुद्र कहा जाता है। विशाल अनन्य ईश्वर-प्रेमके अन्तर्गत तो वह विश्व-प्रेम आ सकता है जो परमात्माके तत्त्वको जानकर इस जड-चेतन विश्वके साथ निःस्वार्थभावसे किया जाता है। यद्यपि इसमें भी देश-कालकी परिमितता है तथापि यह तत्त्वज्ञानयुक्त और निष्काम होनेके कारण देशकालावच्छिन्न होनेपर भी सच्चा और सराहनीय माना जाता है। वास्तविक और सर्वोत्कृष्ट ईश्वर-प्रेम तो वही है जो इस जड-चेतन जगत्सहित, देशकालरहित अपरिमित परमात्मामें बिना किसी हेतुके होता है!

अब यह समझना है कि चेतन और जड-जगत्‌के साथ—परा और अपरा प्रकृतिके साथ किस प्रकारका प्रेम करना चाहिये।

चेतनके साथ प्रेम

१- मनुष्यादि मुक्तिके अधिकारी जीवोंको, इस लोक और परलोकके

यथार्थ अभ्युदय और परम कल्याणके लिये अपनी शक्तिके अनुसार तन-मन-धनसे हेतुरहित सहायता पहुँचाना।

२- पशु, पक्षी आदि जीवोंको, जिनको आत्मज्ञानकी प्राप्ति विधेय नहीं है, इस लोकमें रक्षा, वृद्धि और उनके हितके लिये अपनी शक्तिके अनुसार तन-मन-धनसे हेतुरहित सहायता करना।

३-इसी प्रकारका वृक्ष-लता आदिके साथ स्वार्थरहित हित-व्यवहार करना।

जडके साथ प्रेम

जो पदार्थ जीवोंके लिये उपयोगी हैं और उत्तम गुण तथा कर्मोंकी वृद्धिमें सहायक हैं, उन पदार्थोंकी उन्नति, वृद्धि और रक्षाके लिये चेष्टा करना और आसक्ति तथा कामनाको त्यागकर लोक-शिक्षाके लिये उनका यथायोग्य प्रयोग करना।

जो पदार्थ जीवोंके लिये अहितकारक हैं और दुर्गुण तथा दुष्कर्मोंको बढ़ानेवाले हैं उनके घटाने और नष्ट करनेके लिये प्रयत्न करना और द्वेष तथा कामनाको त्यागकर लोकसंग्रहार्थ उनका यथोचितरूपसे सर्वथा त्याग करना।

जिस प्रकार उपयोगी पदार्थोंकी वृद्धि, रक्षा और उपयोगमें उनके साथ प्रेम करना है, इसी प्रकार हानिकारक पदार्थोंके क्षय और त्यागमें भी उनके साथ प्रेम करना है, हानिकारक पदार्थोंका अस्तित्व न रहनेमें ही हित है और हितकी चेष्टा ही प्रेम है।

इसी प्रकार मन, बुद्धि, अहंकार और समस्त इन्द्रियाँ आदिको दुराचार, दुर्गुण और भोग-विषयोंसे हटाकर सद्गुणोंकी वृद्धिके लिये उन्हें ईश्वर-भक्तिमें—ईश्वर-सम्बन्धी विषयोंमें लगाना उनके साथ प्रेम करना है।

यह प्रेम साधकको ईश्वरकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध पुरुषोंको लोक-संग्रहके लिये करना चाहिये।

यह विश्व-प्रेम ईश्वर-प्रेमके अन्तर्गत है, ईश्वरमें प्रेम होनेपर यह आप ही

हो जाता है, अतएव मनुष्यमात्रको ईश्वरके प्रति विशुद्ध और अनन्य प्रेम करनेके लिये प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये। इस ईश्वर-प्रेमके कुछ साधन निम्नलिखित हैं—

१- ईश्वरके गुण, प्रेम, प्रभाव और रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका श्रवण, मनन और पठन-पाठन।

२- भगवान्में श्रद्धा और निष्काम प्रेम करनेवाले पुरुषोंका सङ्ग।

३- भगवान्के स्वरूपको याद रखते हुए प्रेमपूर्वक उनके नामका जप और कीर्तन।

४- भगवान्की आज्ञाका पालन और प्रत्येक सुख-दुःखको भगवान्का विधान समझकर प्रसन्नचित्त रहना।

५- सम्पूर्ण जीवोंको भगवान्का अंश मानकर सबके हितके लिये कोशिश करना।

६- ईश्वरके तत्त्वको जानने और उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये उत्कण्ठित रहना।

७- एकान्तमें करुणभावसे ईश्वर-प्रार्थना करना।

इस प्रकार साधन करनेसे ईश्वरमें अनन्य विशुद्ध प्रेम होकर ईश्वरकी साक्षात् प्राप्ति होती है। फिर जड-चेतन संसारमें तो उसका हेतुरहित प्रेम होना अनिवार्य ही है। ऐसे तत्त्वके जाननेवाले प्रेमी भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
> निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
> सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
>
> (गीता १२। १३-१४)

'जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित

दयालु है एवं जो ममतासे रहित, अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम तथा क्षमावान् यानी अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है, जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है, मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि ईश्वर-प्रेम ही विश्व-प्रेम है।

ईश्वरमें विश्वास

ईश्वरके विषयमें जो प्रश्न किये गये हैं उनको सुनकर मुझको आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि यह विषय बुद्धिकी पहुँचके बाहरका है। आश्चर्य तो इसमें मानना चाहिये कि जो ईश्वरको मानते हुए भी नहीं मानते। ईश्वरके तत्त्वको न जानकर ईश्वरको माननेवाले कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, कर्मफलदाता, सत्य-विज्ञान-आनन्दघन है, इस प्रकार ईश्वरके स्वरूपको बतलाते हैं, पर ईश्वरके निर्माण किये हुए नियमोंका पालन नहीं करते। ऐसे पुरुषोंका मानना केवल कथनमात्र है, ऐसे ही मनुष्योंकी मूर्खताका यह फल है कि आज संसारमें ईश्वरके अस्तित्वमें सन्देह किया जाता है। ईश्वरको सर्वथा न माननेवालोंकी अपेक्षा अन्धश्रद्धासे भी ईश्वरके माननेवालोंको उत्तम समझता हुआ ही मैं उनकी निन्दा इसलिये करता हूँ कि ऐसे अन्धश्रद्धावाले मनुष्य भी अनीश्वरवादके प्रचारमें एक प्रधान कारण हुए हैं। जो वास्तवमें ईश्वरको समझकर ईश्वरको मानते हैं, उन्हींका मानना सराहनीय है। क्योंकि जो ईश्वरके तत्त्वको जान जाता है उसके आचरण परमेश्वरकी मर्यादाके प्रतिकूल नहीं होते, प्रत्युत उसीके आचरण प्रमाण-भूत और आदरणीय होते हैं। भगवान् कहते हैं—

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
>
> (गीता ३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं।' ऐसे पुरुष ही ईश्वरवादके सच्चे प्रचारक हैं, मैं तो एक

साधारण पुरुष हूँ। यद्यपि ईश्वर-विषयक प्रश्नोंके उत्तर देनेमें मैं असमर्थ हूँ, तथापि पाठकोंके लिये साधु पुरुषोंके सङ्ग और अपने विचारसे उत्पन्न हुए भावोंका अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कुछ अंश अपने मनोविनोदके लिये उनकी सेवामें रखता हूँ। सज्जनगण मुझे बालक समझकर मेरी त्रुटियोंपर क्षमा करेंगे। ईश्वरका विषय बड़ा गहन और रहस्यपूर्ण है, इस विषयमें बड़े-बड़े पण्डितजन भी मोहित हो जाते हैं, फिर मुझ-सरीखे साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है।

१-(क) ईश्वर बिना ही कारण सबपर दया करता है, प्रत्युपकारके बिना न्याय करता है और सबको समान समझकर सबसे प्रेम करता है। इसलिये उसको मानना कर्तव्य है और कर्तव्य पालन करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है।

(ख) ईश्वरको माननेसे उसकी प्राप्तिके लिये उसके गुण, प्रेम, प्रभावको जाननेकी खोज होती है और उसके नामका जप, स्वरूपका ध्यान, गुणोंके श्रवण-मननकी चेष्टा होती है, जिससे मनुष्यके पापों, अवगुणों एवं दुःखोंका नाश होकर उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

(ग) अच्छी प्रकारसे समझकर ईश्वरको माननेसे मनुष्यके द्वारा किसी प्रकारका दुराचार नहीं हो सकता। जिन पुरुषोंमें दुराचार देखनेमें आते हैं, वे वास्तवमें ईश्वरको मानते ही नहीं हैं। झूठे ही ईश्वरवादी बने हुए हैं।

(घ) सच्चे हृदयसे ईश्वरको माननेवालोंकी सदासे जय होती आयी है। ध्रुव-प्रह्लादादि-जैसे अनेकों ज्वलन्त उदाहरण शास्त्रोंमें भरे हैं। वर्तमानमें भी सच्चे हृदयसे ईश्वरको मानकर उसकी शरण लेनेवालोंकी प्रत्यक्ष उन्नति देखी जाती है।

(ङ) सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंकी सार्थकता भी ईश्वरके माननेसे ही सिद्ध होती है। क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रोंका ध्येय ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥

(महा० स्वर्गारोहण० अ० ६)

इसी प्रकार ईश्वरको माननेसे और भी अनन्त लाभ हैं।

२—(क) कर्मोंके अनुसार फल भुगतानेवाले सर्वव्यापी परमात्माकी सत्ता न माननेसे मनुष्यमें उच्छृङ्खलता बढ़ती है। उच्छृङ्खल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी-जारी, हिंसादि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है, जिसके परिणाममें वह और महादुःखी बन जाता है।

(ख) ईश्वरको न माननेसे ईश्वरके तत्त्वज्ञानकी खोज नहीं हो सकती और तत्त्वज्ञानकी खोजके बिना ईश्वरके तत्त्वका ज्ञान नहीं होता और ज्ञान बिना कल्याण नहीं हो सकता।

(ग) ईश्वरको न माननेसे कृतघ्नताका दोष आ जाता है, क्योंकि जो पुरुष सर्व संसारके उत्पन्न तथा पालन करनेवाले सबके सुहृद् उस परमपिता परमात्माको ही नहीं मानते, वह यदि अपनेको जन्म देनेवाले माता-पिताको भी न मानें तो क्या आश्चर्य है ? और जन्मसे उपकार करनेवाले माता-पिताको न माननेवालेके समान दूसरा कौन कृतघ्न है ?

(घ) ईश्वरको न माननेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक स्थिति नष्ट हो जाती है और उसमें पशुपन आ जाता है। संसारमें जो लोग ईश्वरको नहीं माननेवाले हैं, गौर करके देखनेसे उनमें यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है।

इसी प्रकार ईश्वरको न माननेमें अन्य अनेकों महान् हानियाँ हैं, पर विस्तारके भयसे अधिक नहीं लिखा गया।

३— ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण पूछना कोई आश्चर्यजनक बात या बुद्धिमत्ता नहीं है। इस विषयमें प्रश्न करना साधारण है। स्थूल बुद्धिसे न समझमें आनेवाले विषयमें समझदार पुरुषोंको भी शङ्का हो जाती है, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? परन्तु विचारनेकी बात है कि जो परमात्मा स्वतः प्रमाण है और जिस परमात्मासे ही सब प्रमाणोंकी सिद्धि होती है उसके विषयमें प्रमाण पूछना आश्चर्य भी है, जैसे किसी मनुष्यका अपने

ही सम्बन्धमें शङ्का करना कि 'मैं हूँ या नहीं' व्यर्थ है, वैसे ही ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें पूछना है। यदि कहो कि 'मैं तो प्रत्यक्ष हूँ ईश्वर तो ऐसा नहीं है' सो यह कहा तो जा सकता है, परन्तु असल बात तो यह है कि परमात्मा इससे भी बढ़कर प्रत्यक्ष है। कोई पूछे कि 'हमसे बढ़कर परमात्माकी प्रत्यक्षता कैसे है ?' इसका उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न-अवस्थाके अनुभव किये हुए पदार्थ जाग्रत्-अवस्थामें नहीं रहते, इसी बातको लेकर यह शङ्का हो सकती है कि यह जाग्रत्-अवस्थामें दीखनेवाले पदार्थ भी किसीका स्वप्न हो, क्योंकि स्वप्नके पदार्थोंका स्वप्न-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, वैसे ही जाग्रत्-अवस्थाके पदार्थोंका जाग्रत्-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, परन्तु जिससे इन सबकी सत्ता है और जो सबके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता, जो सबका आधार और अधिष्ठान है, उस निर्विकार परमात्माकी प्रत्यक्षता हमारे व्यक्तिगत अस्तित्वकी अपेक्षा बहुत विशेष है, पर इस प्रकारकी प्रत्यक्षता उन्हीं महात्मा पुरुषोंको होती है कि जिनकी महिमा सब शास्त्र गाते हैं। जो सूक्ष्मदर्शी हैं वे ही सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं। इस विषयमें श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्र और महात्मा पुरुषोंके वचन प्रमाण हैं। जिनको स्वयं साक्षात् करनेकी इच्छा हो वे श्रुति, स्मृति तथा महात्मा पुरुषोंके बताये हुए मार्गके अनुसार साधनके लिये प्रयत्न करनेसे परमात्माको प्रत्यक्ष कर सकते हैं। परमात्माके अस्तित्वकी सिद्धिमें युक्तिप्रमाण भी हैं। कार्यकी सिद्धिसे कारणके निश्चय करनेको युक्तिप्रमाण कहते हैं। संसारमें किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति और उसका सञ्चालन किसी कर्ताके बिना नहीं देखा जाता। इसीसे यह निश्चय होता है कि पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा और काल आदिकी रचना और नियमानुसार उनका सञ्चालन करनेवाली कोई बड़ी भारी शक्ति है, उसी शक्तिको परमात्मा समझना चाहिये। यदि कहो, 'बिना कर्ताके प्रकृतिसे ही अपने-आप सब उत्पन्न हो जाते हैं इसमें कर्ताकी कोई आवश्यकता नहीं, जैसे

वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष अपने-आप ही उत्पन्न होते हुए देखनेमें आते हैं, सो ठीक है, किन्तु यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। प्रथम तो यह बात विचारनी चाहिये कि पहले बीजकी उत्पत्ति हुई या वृक्षकी ? यदि वृक्षकी कहो तो वृक्ष कहाँसे आया ? और बीजकी कहो तो बीज कहाँसे आया ? यदि दोनोंकी उत्पत्ति एक साथ कहो तो किसके द्वारा किससे हुई ? क्योंकि बिना किसी कारणके कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। जिससे और जिसके द्वारा बीज, वृक्ष आदिकी उत्पत्ति हुई है वे ही परमात्मा हैं।

दूसरा प्रश्न होता है कि यह प्रकृति जड है या चेतन। यदि जड कहो तो चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिके बिना किसी पदार्थका उत्पन्न और सञ्चालन होना सम्भव नहीं और यदि चेतन कहो तो फिर हमारा कोई विरोध नहीं; क्योंकि चेतन-शक्ति ही परमात्मा है, जिनके द्वारा इस संसारकी उत्पत्ति हुई है। केवल संसारकी उत्पत्ति ही नहीं, चेतनकी सत्ता बिना इस संसारका सञ्चालन भी नियमानुसार नहीं हो सकता। बिना यन्त्रीके किसी छोटे-से-छोटे यन्त्रका भी सञ्चालन होता नहीं दिखायी देता। किसी भी कार्यका सञ्चालन हो, बिना सञ्चालकके वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है अतएव जिससे इस संसारका नियमानुसार सञ्चालन होता है, उसीको परमात्मा समझना चाहिये। जीवोंके किये हुए कर्मोंके फलोंका भी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, परमात्माके बिना यथायोग्य भुगताया जाना सम्भव नहीं है, यदि कहो 'कर्मोंके अनुसार कर्ता पुरुषको किये हुए कर्मोंका फल अपने-आप मिल जाता है, तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि कर्म जड होनेके कारण उनमें यथायोग्य फल-विभाग करनेकी शक्ति नहीं है और जीव बुरे कर्मोंका फल दुःख स्वयं भोगना चाहता नहीं। चोर चोरी करता है और चोरीके अनुसार राजा उसे दण्ड देता है; परन्तु न तो वह चोर जेलखानेमें स्वयं जाता है और न वह चोरीरूप कर्म ही उसे जेल पहुँचा सकता है। राजाकी आज्ञासे नियत किये हुए अधिकारी लोग ही चोरीके अपराधके अनुसार उसे जेलका दण्ड देते हैं, इसी प्रकार पाप-

कर्म करनेवाले पुरुषोंको परमेश्वरके नियत किये हुए अधिकारी देवता पाप-कर्मोंका दुःखरूप दण्ड देते हैं। ऐसे ही यह जीव किये हुए सुकृत-कर्मोंका फलरूप सुख भोगनेमें भी असमर्थ है। जैसे कोई राजाके कानूनके अनुसार चलनेवाले व्यक्तिको राजा या उनके नियत किये हुए पुरुषोंद्वारा कर्मोंके अनुसार नियत किया हुआ ही पुरस्कार मिलता है, उसी प्रकारसे सुकृत कर्म करनेवाले पुरुषोंको भी उनके कर्मोंके अनुसार परमेश्वरद्वारा नियत किया हुआ फल मिलता है।

अज्ञानके द्वारा मोहित होनेके कारण जीवोंको अपने कर्मोंके अनुसार स्वतन्त्रतासे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेका सामर्थ्य और ज्ञान भी नहीं है।

इसके सिवा सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना बिना किसी परम बुद्धिमान् चेतन कर्ताके नहीं हो सकती।

इस उपर्युक्त विवेचनसे यही बात सिद्ध होती है, कि परमेश्वरके बिना न तो संसारकी उत्पत्ति सम्भव है, न सञ्चालन हो सकता है, न जीवोंको उनके कर्मफलका यथायोग्य फल प्राप्त हो सकता है और न सप्रयोजन सृष्टि हो सकती है।

ईश्वर 'स्वतःप्रमाण' प्रसिद्ध है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रमाणोंकी सिद्धि ईश्वरके प्रमाणसे ही सिद्ध होती है, इसलिये उसमें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं।

ईश्वरके होनेमें शास्त्र भी प्रमाण हैं, सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंका तात्पर्य भी ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है। इसके लिये जगह-जगह असंख्य प्रमाण देख सकते हैं।

यजुर्वेद—

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(४०।१)

'इस जगत्‌में जो कुछ भी है वह सब-का-सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

****

ब्रह्मसूत्र—

'जन्माद्यस्य यतः।' 'शास्त्रयोनित्वात्॥

(१।२-३)

'जिससे उत्पत्ति, स्थिति और पालन होता है, वह ईश्वर है। शास्त्रका कारण होनेसे अर्थात् जो शास्त्रका उत्पादक है तथा शास्त्रद्वारा प्रमाणित है, वह ईश्वर है।'

गीता—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

(१५।१५)

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८।६१)

'हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(१३।१७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अति परे कहा जाता है

तथा परमात्मा बोधस्वरूप और जाननेयोग्य है एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है।'

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(१५।१७)

'उन (क्षर, अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है कि जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा, ऐसे कहा गया है।'

योगदर्शन—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(समाधिपाद २४-२६)

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (मरणभय)—इन पाँच क्लेशोंसे, पाप-पुण्य आदि कर्मोंसे, सुख-दुःखादि भोगोंसे और सम्पूर्ण वासनाओंसे रहित पुरुषविशेष (पुरुषोत्तम) ईश्वर है। उस परमेश्वरमें सर्वज्ञताका कारण ज्ञान निरतिशय है। वह पूर्वमें होनेवाले ब्रह्मादिका भी उत्पादक और शिक्षक है; क्योंकि कालके द्वारा उसका अवच्छेद नहीं होता।'

उपनिषद्—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति,
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म।

(तैत्तिरीय० ३।१)

'जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं तथा उत्पन्न हुए प्राणी जिसके अनुग्रहसे जीते हैं और मृत्युके पश्चात् जिसमें लीन होते हैं, उसको तू जान, वह ब्रह्म है।'

****

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

(श्वेता० ६। ११)

'एक ही देव (परमात्मा) सब भूतोंके अन्तस्तलमें विराजमान है, वह सर्वव्यापी है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है। वही कर्मोंका अध्यक्ष, सब भूतोंका निवासस्थान, साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण है।'

भागवतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥

(४। ७। ५०-५१)

'हे ब्राह्मण ! मैं ही ब्रह्मा हूँ, शिव हूँ और जगत्का परम कारण हूँ। मैं ही आत्मा और ईश्वर हूँ, अन्तर्यामी हूँ, स्वयं प्रकाश हूँ तथा निर्गुण हूँ। मैं अपनी त्रिगुणमयी मायामें समाविष्ट होकर विश्वका पालन, पोषण और संहार करता हुआ क्रियानुसार नाम धारण करता हूँ।'

महाभारत अनुशासनपर्वके १४९वें अध्यायमें कहा है—

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥ ६ ॥
ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम्।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥ ७ ॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥ ९ ॥

पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥ १० ॥

'उस अनादि, अनन्त, सर्वलोकव्यापक, सर्वलोकमहेश्वर, सब लोकोंके अध्यक्षकी सदा स्तुति करनेवाला सब दुःखोंको लाँघ जाता है।' 'जो परम ब्रह्मण्य, सब धर्मोंको जाननेवाले, लोकोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, लोकनाथ, सर्वभूतोंको उत्पन्न करनेवाले महान् भूत हैं।' 'जो तेजके परम और महान् पुञ्ज हैं, जो बड़े-से-बड़े तपोरूप हैं, जो परम महान् ब्रह्मरूप हैं और जो बड़े-से-बड़े श्रेष्ठ आश्रय हैं।' 'जो पवित्र वस्तुओंमें सबसे अधिक पवित्र हैं, जो मङ्गलोंके भी मङ्गलरूप हैं, जो देवताओंके परम देवता हैं और जो प्राणिमात्रके अविनाशी पिता हैं।'

वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड—

कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः॥

(११७। ६, १४)

ब्रह्मा कहते हैं, 'हे राघव! आप समस्त लोकोंके कर्ता, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ विभु हैं। आप ही सब लोकोंके आदि, मध्य, अन्तमें विराजित अक्षर ब्रह्म और सत्य हैं, आप सब लोकोंके परमधर्म विष्वक्सेन चतुर्भुज हरि हैं।'

जैन, बौद्ध और चार्वाक् आदि कतिपय मतोंको छोड़कर ऐसा कोई भी वेद-शास्त्र नहीं है, जिसमें ईश्वरका प्रतिपादन न किया गया हो। यहाँतक कि मुसलमान, ईसाई आदि भी ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं। यथा—

कुरान—पूर्व और पश्चिम सब खुदाके ही हैं, तुम जिधर भी अपना मुँह घुमाओगे, उधर ही खुदाका मुख रहेगा। खुदा वास्तवमें अत्यन्त ही उदार है, सर्वशक्तिमान् है।

ईसाने कहा है—जिसका ईश्वरमें विश्वास है तथा जो भगवान्‌की शक्तिके

आश्रित है, वह संसारसे तर जायगा, पर अविश्वासियोंकी बड़ी दुर्गति होगी।

४—मनुष्य यदि विचारदृष्टिसे देखे तो उसे न्यायकारी और परमदयालु ईश्वरकी सत्ता और दयाका पद-पदपर परिचय मिलता है। प्राचीन और अर्वाचीन बहुत-से महात्माओंकी जीवनियोंमें इस प्रकारकी घटनाओंके अनेकों प्रमाण प्राप्त होते हैं। मैं अपने सम्बन्धमें इस विषयपर क्या लिखूँ? अवश्य ही मैं यह विनय कर सकता हूँ कि सर्वशक्तिमान् विज्ञानानन्दघन परमात्माकी सत्ता और दयापर तथा उससे होनेवाली महात्माओंकी जीवन-घटनाओंपर विश्वास करनेसे अवश्य लाभ होता है।

शिव-तत्त्व

शान्तं पद्मासनस्थं शशधरमुकुटं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रं
शूलं वज्रं च खड्गं परशुमभयदं दक्षभागे वहन्तम्।
नागं पाशं च घण्टां प्रलयहुतवहं साङ्कुशं वामभागे
नानालङ्कारयुक्तं स्फटिकमणिनिभं पार्वतीशं नमामि॥*

शिव-तत्त्व बहुत ही गहन है। मुझ सरीखे साधारण व्यक्तिका इस तत्त्वपर कुछ लिखना एक प्रकारसे लड़कपनके समान है। परन्तु इसी बहाने उस विज्ञानानन्दघन महेश्वरकी चर्चा हो जायगी, यह समझकर अपने मनोविनोदके लिये कुछ लिख रहा हूँ। विद्वान् महानुभाव क्षमा करें।

श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदिमें सृष्टिकी उत्पत्तिका भिन्न-भिन्न प्रकारसे वर्णन मिलता है। इसपर तो यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न ऋषियोंके पृथक्-पृथक् मत होनेके कारण उनके वर्णनमें भेद होना सम्भव है; परन्तु पुराण तो अठारहों एक ही महर्षि वेदव्यासके रचे हुए माने जाते हैं, उनमें भी सृष्टिकी उत्पत्तिके वर्णनमें विभिन्नता ही पायी जाती है। शैवपुराणोंमें शिवसे, वैष्णवपुराणोंमें विष्णु, कृष्ण या रामसे और शाक्तपुराणोंमें देवीसे सृष्टिकी उत्पत्ति बतलायी गयी है इसका क्या कारण है? एक ही पुरुषद्वारा रचित भिन्न-भिन्न पुराणोंमें एक ही खास विषयमें इतना भेद क्यों? सृष्टिके विषयमें ही नहीं, इतिहासों और कथाओंका भी पुराणोंमें कहीं-कहीं अत्यन्त भेद पाया जाता है। इसका क्या हेतु है?

---

* जो शान्तस्वरूप हैं, कमलके आसनपर विराजमान हैं, मस्तकपर चन्द्रमाका मुकुट धारण करनेवाले हैं, जिनके पाँच मुख हैं, तीन नेत्र हैं, जो अपने दाहिने भागकी भुजाओंमें शूल, वज्र, खड्ग, परशु और अभयमुद्रा धारण करते हैं तथा वामभागकी भुजाओंमें सर्प, पाश, घण्टा, प्रलयाग्नि और अंकुश धारण किये रहते हैं, उन नाना अलङ्कारोंसे विभूषित एवं स्फटिकमणिके समान श्वेतवर्ण भगवान् पार्वतीपतिको नमस्कार करता हूँ।

इस प्रश्नपर मूल-तत्त्वकी ओर लक्ष्य रखकर गम्भीरताके साथ विचार करनेपर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रममें भिन्न-भिन्न श्रुति, स्मृति और इतिहास-पुराणोंके वर्णनमें एवं योग, सांख्य, वेदान्तादि शास्त्रोंके रचयिता ऋषियोंके कथनमें भेद रहनेपर भी वस्तुतः मूल सिद्धान्तोंमें कोई खास भेद नहीं है; क्योंकि प्रायः सभी कोई नाम-रूप बदलकर आदिमें प्रकृति-पुरुषसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति बतलाते हैं। वर्णनमें भेद होने अथवा भेद प्रतीत होनेके निम्नलिखित कई कारण हैं—

१— मूल-तत्त्व एक होनेपर भी प्रत्येक महासर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम सदा एक-सा नहीं रहता; क्योंकि वेद, शास्त्र और पुराणोंमें भिन्न-भिन्न सर्ग और महासर्गोंका वर्णन है, इससे वर्णनमें भेद होना स्वाभाविक है।

२— महासर्ग और सर्गके आदिमें भी उत्पत्ति-क्रममें भेद रहता है। ग्रन्थोंमें कहीं महासर्गका वर्णन है तो कहीं सर्गका, इससे भी भेद हो जाता है।

३— प्रत्येक सर्गके आदिमें भी सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम सदा एक-सा नहीं रहता, यह भी भेद होनेका एक कारण है।

४— सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारके क्रमका रहस्य बहुत ही सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है, इसे समझानेके लिये नाना प्रकारके रूपकोंसे उदाहरण-वाक्योंद्वारा नाम-रूप बदलकर भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिकी उत्पत्ति आदिका रहस्य बतलानेकी चेष्टा की गयी है। इस तात्पर्यको न समझनेके कारण भी एक दूसरे ग्रन्थके वर्णनमें विशेष भेद प्रतीत होता है।

ये तो सृष्टिकी उत्पत्ति आदिके सम्बन्धमें वेद-शास्त्रोंमें भेद होनेके कारण हैं। अब पुराणोंके सम्बन्धमें विचार करना है। पुराणोंकी रचना महर्षि वेदव्यासजीने की। वेदव्यासजी महाराज बड़े भारी तत्त्वदर्शी विद्वान् और सृष्टिके समस्त रहस्यको जाननेवाले महापुरुष थे। उन्होंने देखा कि वेद-

शास्त्रोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शक्ति आदि ब्रह्मके अनेक नामोंका वर्णन होनेसे वास्तविक रहस्यको न समझकर अपनी-अपनी रुचि और बुद्धिकी विचित्रताके कारण मनुष्य इन भिन्न-भिन्न नाम-रूपवाले एक ही परमात्माको अनेक मानने लगे हैं और नाना मत-मतान्तरोंका विस्तार होनेसे असली तत्त्वका लक्ष्य छूट गया है। इस अवस्थामें उन्होंने सबको एक ही परम लक्ष्यकी ओर मोड़कर सर्वोत्तम मार्गपर लानेके लिये एवं श्रुति, स्मृति आदिका रहस्य स्त्री, शूद्रादि अल्पबुद्धिवाले मनुष्योंको समझानेके लिये उन सबके परम हितके उद्देश्यसे पुराणोंकी रचना की। पुराणोंकी रचनाशैली देखनेसे प्रतीत होता है कि महर्षि वेदव्यासजीने उनमें इस प्रकारके वर्णन, उपदेश और आदेश किये हैं, जिनके प्रभावसे परमेश्वरके नाना प्रकारके नाम और रूपोंको देखकर भी मनुष्य प्रमाद, लोभ और मोहके वशीभूत हो सन्मार्गका त्याग करके मार्गान्तरमें नहीं जा सकते। वे किसी भी नाम-रूपसे परमेश्वरकी उपासना करते हुए ही सन्मार्गपर आरूढ़ रह सकते हैं। बुद्धि और रुचि-वैचित्र्यके कारण संसारमें विभिन्न प्रकारके देवताओंकी उपासना करनेवाले जनसमुदायको एक ही सूत्रमें बाँधकर उन्हें सन्मार्गपर लगा देनेके उद्देश्यसे ही शास्त्र और वेदोक्त देवताओंको ईश्वरत्व देकर भिन्न-भिन्न पुराणोंमें भिन्न-भिन्न देवताओंसे भिन्न-भिन्न भाँतिसे सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका क्रम बतलाया गया है। जीवोंपर महर्षि वेदव्यासजीकी परम कृपा है। उन्होंने सबके लिये परमधाम पहुँचनेका मार्ग सरल कर दिया। पुराणोंमें यह सिद्ध कर दिया है कि जो मनुष्य भगवान्‌के जिस नाम-रूपका उपासक हो वह उसीको सर्वोपरि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण गुणाधार, विज्ञानानन्दघन परमात्मा माने और उसीको सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें प्रकट होकर क्रिया करनेवाला समझे। उपासकके लिये ऐसा ही समझना परम लाभदायक और सर्वोत्तम है कि मेरे उपास्यदेवसे बढ़कर और कोई है ही नहीं। सब उसीका लीला-विस्तार या विभूति है।

वास्तवमें बात भी यही है। एक निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही हैं। उन्हींके किसी अंशमें प्रकृति है। उस प्रकृतिको ही लोग माया, शक्ति आदि नामोंसे पुकारते हैं। वह माया बड़ी विचित्र है। उसे कोई अनादि, अनन्त कहते हैं तो कोई अनादि, सान्त मानते हैं; कोई उस ब्रह्मकी शक्तिको ब्रह्मसे अभिन्न मानते हैं तो कोई भिन्न बतलाते हैं; कोई सत् कहते हैं तो कोई असत् प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः मायाके सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा जाता है, माया उससे विलक्षण है। क्योंकि उसे न असत् ही कहा जा सकता है, न सत् ही । असत् तो इसलिये नहीं कह सकते कि उसीका विकृत रूप यह संसार (चाहे वह किसी भी रूपमें क्यों न हो) प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और सत् इसलिये नहीं कह सकते कि जड दृश्य सर्वथा परिवर्तनशील होनेसे उसकी नित्य सम स्थिति नहीं देखी जाती एवं ज्ञान होनेके उत्तरकालमें उसका या उसके सम्बन्धका अत्यन्त अभाव भी बतलाया गया है और ज्ञानीका भाव ही असली भाव है। इसीलिये उसको अनिर्वचनीय समझना चाहिये।

विज्ञानानन्दघन परमात्माके वेदोंमें दो स्वरूप माने गये हैं। प्रकृतिरहित ब्रह्मको निर्गुण ब्रह्म कहा गया है और जिस अंशमें प्रकृति या त्रिगुणमयी माया है उस प्रकृतिसहित ब्रह्मके अंशको सगुण कहते हैं। सगुण ब्रह्मके भी दो भेद माने गये हैं—एक निराकार, दूसरा साकार। उस निराकार, सगुण ब्रह्मको ही महेश्वर, परमेश्वर आदि नामोंसे पुकारा जाता है। वही सर्वव्यापी, निराकार, सृष्टिकर्ता परमेश्वर स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेश— इन तीनों रूपोंमें प्रकट होकर सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार किया करते हैं। इस प्रकार पाँच रूपोंमें विभक्त-से हुए परात्पर, परब्रह्म परमात्माको ही शिवके उपासक सदाशिव, विष्णुके उपासक महाविष्णु और शक्तिके उपासक महाशक्ति आदि नामोंसे पुकारते हैं। श्रीशिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, राम, कृष्ण आदि सभीके सम्बन्धमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं। शिवके उपासक नित्य विज्ञानानन्दघन निर्गुण ब्रह्मको

सदाशिव, सर्वव्यापी, निराकार; सगुण ब्रह्मको महेश्वर; सृष्टिके उत्पन्न करनेवालेको ब्रह्मा; पालनकर्ताको विष्णु और संहारकर्ताको रुद्र कहते हैं और इन पाँचोंको ही शिवका रूप बतलाते हैं। भगवान् विष्णुके प्रति भगवान् महेश्वर कहते हैं—

त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्मविष्णुहराख्यया।
सर्गरक्षालयगुणैर्निष्कलोऽपि सदा हरे॥
यथा च ज्योतिषः सङ्गाज्जलादेः स्पर्शता न वै।
तथा ममागुणस्यापि संयोगाद्बन्धनं न हि॥
यथैकस्या मृदो भेदो नाम्नि पात्रे न वस्तुतः।
यथैकस्य समुद्रस्य विकारो नैव वस्तुतः॥
एवं ज्ञात्वा भवद्भ्यां च न दृश्यं भेदकारणम्।
वस्तुतः सर्वदृश्यं च शिवरूपं मतं मम॥
अहं भवानयं चैव रुद्रोऽयं यो भविष्यति।
एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बन्धनं भवेत्॥
तथापीह मदीयं वै शिवरूपं सनातनम्।
मूलभूतं सदा प्रोक्तं सत्यं ज्ञानमनन्तकम्॥

(शिव० ज्ञान० ४। ४१, ४४, ४८—५१)

'हे विष्णो ! हे हरे !! मैं स्वभावसे निर्गुण होता हुआ भी संसारकी रचना, स्थिति एवं प्रलयके लिये रज, सत्त्व आदि गुणोंसे क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—इन नामोंके द्वारा तीन रूपोंमें विभक्त हो रहा हूँ। जिस प्रकार जलादिके संसर्गसे अर्थात् उनमें प्रतिबिम्ब पड़नेसे सूर्य आदि ज्योतियोंमें उसका सम्पर्क नहीं होता, उसी प्रकार मुझ निर्गुणका भी गुणोंके संयोगसे बन्धन नहीं होता। मिट्टीके नाना प्रकारके पात्रोंमें केवल नाम और आकारका ही भेद है, वास्तविक भेद नहीं है—एक मिट्टी ही है। समुद्रके भी फेन, बुद्बुदे, तरङ्गादि विकार लक्षित होते हैं; वस्तुतः समुद्र एक ही है। यह समझकर आपलोगोंको

भेदका कोई कारण न देखना चाहिये। वस्तुतः सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ शिवरूप ही हैं, ऐसा मेरा मत है। मैं, आप, ये ब्रह्माजी और आगे चलकर मेरी जो रुद्रमूर्ति उत्पन्न होगी— ये सब एकरूप ही हैं, इनमें कोई भेद नहीं है। भेद ही बन्धनका कारण है। फिर भी यहाँ मेरा यह शिवरूप नित्य, सनातन एवं सबका मूल-स्वरूप कहा गया है। यही सत्य, ज्ञान एवं अनन्तरूप गुणातीत परब्रह्म है।'

साक्षात् महेश्वरके इन वचनोंसे उनका **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**—नित्य विज्ञानानन्दघन निर्गुणरूप, सर्वव्यापी, सगुण, निराकाररूप और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्ररूप—ये पाँचों सिद्ध होते हैं। यही सदाशिव पञ्चवक्त्र हैं।

इसी प्रकार श्रीविष्णुके उपासक निर्गुण परात्पर ब्रह्मको महाविष्णु, सर्वव्यापी, निराकार, सगुण ब्रह्मको वासुदेव तथा सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले रूपोंको क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहते हैं। महर्षि पराशर भगवान् विष्णुकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने।
सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे॥
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शङ्कराय च।
वासुदेवाय ताराय सर्गस्थित्यन्तकारिणे॥
एकानेकस्वरूपाय स्थूलसूक्ष्मात्मने नमः।
अव्यक्तव्यक्तरूपाय विष्णवे मुक्तिहेतवे॥
सर्गस्थितिविनाशानां जगतोऽस्य जगन्मयः।
मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने॥
आधारभूतं विश्वस्याप्यणीयांसमणीयसाम्।
प्रणम्य सर्वभूतस्थमच्युतं पुरुषोत्तमम्॥

(विष्णु० १।२।१—५)

'निर्विकार, शुद्ध, नित्य, परमात्मा, सर्वदा एकरूप, सर्वविजयी हरि, हिरण्यगर्भ, शङ्कर, वासुदेव आदि नामोंसे प्रसिद्ध संसार-तारक, विश्वकी उत्पत्ति,

स्थिति तथा लयके कारण, एक और अनेक स्वरूपवाले, स्थूल, सूक्ष्म—उभयात्मक व्यक्ताव्यक्तस्वरूप एवं मुक्तिदाता भगवान् विष्णुको मेरा बारम्बार नमस्कार है। जो जगन्मय भगवान् इस संसारकी उत्पत्ति, पालन एवं विनाशके मूलकारण हैं, उन सर्वव्यापी भगवान् वासुदेव परमात्माको मेरा नमस्कार है। विश्वाधार, अत्यन्त सूक्ष्मसे अति सूक्ष्म, सर्वभूतोंके अंदर रहनेवाले, अच्युत पुरुषोत्तम भगवान्‌को मेरा प्रणाम है।'

यहाँ अव्यक्तसे निर्विकार, नित्य शुद्ध परमात्माका निर्गुण स्वरूप समझना चाहिये। व्यक्तसे सगुण स्वरूप समझना चाहिये। उस सगुणके भी स्थूल और सूक्ष्म—दो स्वरूप बतलाये गये हैं। यहाँ सूक्ष्मसे सर्वव्यापी भगवान् वासुदेवको समझना चाहिये, जो कि ब्रह्मा, विष्णु और महेशके भी मूल कारण हैं एवं सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म पुरुषोत्तम नामसे बतलाये गये हैं तथा स्थूलस्वरूप यहाँ संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और महेशके वाचक हैं जो कि हिरण्यगर्भ हरि और शङ्करके नामसे कहे गये हैं। इन्हीं सब वचनोंसे श्रीविष्णुभगवान्‌के उपर्युक्त पाँचों रूप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार भगवती महाशक्तिकी स्तुति करते हुए देवगण कहते हैं—

सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
गुणाश्रये गुणमयि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

(मार्कण्डेय० ९१। १०)

'ब्रह्मा, विष्णु और महेशके रूपसे सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और विनाश करनेवाली हे सनातनी शक्ति! हे गुणाश्रये! हे गुणमयी नारायणी देवी! तुम्हें नमस्कार हो।'

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
त्वमेवाद्या सृष्टिविधौ स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका॥

कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥
तेजस्स्वरूपा परमा भक्तानुग्रहविग्रहा।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा॥
सर्वबीजस्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमङ्गलमङ्गला॥

(ब्रह्मवै० प्रकृति० २। ६६। ७—११)

'तुम्हीं विश्वजननी, मूल-प्रकृति ईश्वरी हो, तुम्हीं सृष्टिकी उत्पत्तिके समय आद्याशक्तिके रूपमें विराजमान रहती हो और स्वेच्छासे त्रिगुणात्मिका बन जाती हो। यद्यपि वस्तुतः तुम स्वयं निर्गुण हो तथापि प्रयोजनवश सगुण हो जाती हो। तुम परब्रह्मस्वरूप, सत्य, नित्य एवं सनातनी हो; परमतेजःस्वरूप और भक्तोंपर अनुग्रह करनेके हेतु शरीर धारण करनेवाली हो; तुम सर्वस्वरूपा, सर्वेश्वरी, सर्वाधार एवं परात्पर हो। तुम सर्वबीजस्वरूप, सर्वपूज्या एवं आश्रयरहित हो। तुम सर्वज्ञ, सर्वप्रकारसे मङ्गल करनेवाली एवं सर्वमङ्गलोंका भी मङ्गल हो।'

ऊपरके उद्धरणसे महाशक्तिका विज्ञानानन्दघनस्वरूपके साथ ही सर्वव्यापी सगुण ब्रह्म एवं सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और विनाशके लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपमें होना सिद्ध है।

इसी प्रकार ब्रह्माजीके बारेमें कहा गया है—

जय देवाधिदेवाय त्रिगुणाय सुमेधसे।
अव्यक्तजन्मरूपाय कारणाय महात्मने॥
एतत्त्रिभावभावाय उत्पत्तिस्थितिकारक।
रजोगुणगुणाविष्ट सृजसीदं चराचरम्॥
सत्त्वपाल महाभाग तमः संहरसेऽखिलम्।

(देवीपुराण ८३। १३—१६)

'आपकी जय हो। उत्तम बुद्धिवाले, अव्यक्त-व्यक्तरूप त्रिगुणमय, सबके कारण, विश्वकी उत्पत्ति, पालन एवं संहारकारक ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप तीनों भावोंसे भावित होनेवाले महात्मा देवाधिदेव ब्रह्मदेवके लिये नमस्कार है। हे महाभाग! आप रजोगुणसे आविष्ट होकर हिरण्यगर्भरूपसे चराचर संसारको उत्पन्न करते हैं तथा सत्त्वगुणयुक्त होकर विष्णुरूपसे पालन करते हैं एवं तमोमूर्ति धारण करके रुद्ररूपसे सम्पूर्ण संसारका संहार करते हैं।'

उपर्युक्त वचनोंसे ब्रह्माजीके भी परात्पर ब्रह्मसहित पाँचों रूपोंका होना सिद्ध होता है। अव्यक्तसे तो परात्पर परब्रह्मस्वरूप एवं कारणसे सर्वव्यापी, निराकार सगुणरूप तथा उत्पत्ति, पालन और संहारकारक होनेसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूप होना सिद्ध होता है।

इसी तरह भगवान् श्रीरामके प्रति भगवान् शिवके वाक्य हैं—

एकस्त्वं पुरुषः साक्षात् प्रकृतेः पर ईर्यसे।
यः स्वांशकलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च॥
अरूपस्त्वमशेषस्य जगतः कारणं परम्।
एक एव त्रिधा रूपं गृह्णासि कुहकान्वितः॥
सृष्टौ विधातृरूपस्त्वं पालने स्वप्रभामयः।
प्रलये जगतः साक्षादहं शर्वाख्यतां गतः॥

(पद्म० पाताल० ४६। ६—८)

'आप प्रकृतिसे अतीत साक्षात् अद्वितीय पुरुष कहे जाते हैं, जो अपनी अंशकलाके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्ररूपसे विश्वकी उत्पत्ति, पालन एवं संहार करते हैं। आप अरूप होते हुए भी अखिल विश्वके परम कारण हैं। आप एक होते हुए भी माया-संवलित होकर त्रिविध रूप धारण करते हैं। संसारकी सृष्टिके समय आप ब्रह्मारूपसे प्रकट होते हैं, पालनके समय स्वप्रभामय विष्णुरूपसे व्यक्त होते हैं और प्रलयके समय मुझ शर्व (रुद्र) का रूप धारण कर लेते हैं।'

****

श्रीरामचरितमानसमें भी भगवान् शङ्करने पार्वतीजीसे भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें कहा है—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके परब्रह्म परमात्मा होनेका विविध ग्रन्थोंमें उल्लेख है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कथा है कि एक महासर्गके आदिमें भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य अङ्गोंसे भगवान् नारायण और भगवान् शिव तथा अन्यान्य सब देवी-देवता प्रादुर्भूत हुए। वहाँ श्रीशिवजीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

विश्वं विश्वेश्वरेशं च विश्वेशं विश्वकारणम्।
विश्वाधारं च विश्वस्तं विश्वकारणकारणम्॥
विश्वरक्षाकारणं च विश्वघ्नं विश्वजं परम्।
फलबीजं फलाधारं फलं च तत्फलप्रदम्॥

(ब्रह्मवै० १। ३। २५-२६)

'आप विश्वरूप हैं, विश्वके स्वामी हैं, विश्वके स्वामियोंके भी स्वामी हैं, विश्वके कारणके भी कारण हैं, विश्वके आधार हैं, विश्वस्त हैं, विश्वरक्षक हैं, विश्वका संहार करनेवाले हैं और नाना रूपोंसे विश्वमें आविर्भूत होते हैं। आप फलोंके बीज हैं, फलोंके आधार हैं, फलस्वरूप हैं और फलदाता हैं।'

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भी अपने लिये श्रीमुखसे कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(१४। २७)

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

(९।१८-१९)

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

(७।७)

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

(१०।३)

'हे अर्जुन ! उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य-धर्मका एवं अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ; अर्थात् उपर्युक्त ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वत धर्म तथा ऐकान्तिक सुख—यह सब मैं ही हूँ तथा प्राप्त होनेयोग्य, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, उत्पत्ति-प्रलयरूप, सबका आधार, निधान* और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ। मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ तथा वर्षाको आकर्षण करता हूँ और बरसाता हूँ एवं हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु एवं सत् और असत्—सब कुछ मैं ही हूँ।'

'हे धनंजय ! मेरे सिवा किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मेरेमें गुँथा हुआ है। जो मुझको अजन्मा (वास्तवमें जन्मरहित), अनादि † तथा लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता

---

* प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूत सूक्ष्मरूपसे जिसमें लय होते हैं उसका नाम 'निधान' है।

† अनादि उसको कहते हैं जो आदिरहित होवे और सबका कारण होवे।

है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

ऊपरके इन अवतरणोंसे यह सिद्ध हो गया कि भगवान् श्रीशिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, राम, कृष्ण-तत्त्वतः एक ही हैं। इस विवेचनपर दृष्टि डालकर विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि सभी उपासक एक सत्य, विज्ञानानन्दघन परमात्माको मानकर सच्चे सिद्धान्तपर ही चल रहे हैं। नाम-रूपका भेद है, परन्तु वस्तु-तत्त्वमें कोई भेद नहीं। सबका लक्ष्यार्थ एक ही है। ईश्वरको इस प्रकार सर्वोपरि, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन समझकर शास्त्र और आचार्योंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार किसी भी नाम-रूपसे उसकी जो उपासना की जाती है, वह उस एक ही परमात्माकी उपासना है।

विज्ञानानन्दघन सर्वव्यापी परमात्मा शिवके उपर्युक्त तत्त्वको न जाननेके कारण ही कुछ शिवोपासक भगवान् विष्णुकी निन्दा करते हैं और कुछ वैष्णव भगवान् शिवकी निन्दा करते हैं। कोई-कोई यदि निन्दा और द्वेष नहीं भी करते हैं तो प्रायः उदासीन-से तो रहते ही हैं। परन्तु इस प्रकारका व्यवहार वस्तुतः ज्ञानरहित समझा जाता है। यदि यह कहा जाय कि ऐसा न करनेसे एकनिष्ठ अनन्य उपासनामें दोष आता है, तो वह ठीक नहीं है, जैसे पतिव्रता स्त्री एकमात्र अपने पतिको ही इष्ट मानकर उसके आज्ञानुसार उसकी सेवा करती हुई, पतिके माता-पिता, गुरुजन तथा अतिथि-अभ्यागत और पतिके अन्यान्य सम्बन्धी और प्रेमी बन्धुओंकी भी पतिके आज्ञानुसार पतिकी प्रसन्नताके लिये यथोचित आदरभावसे मन लगाकर विधिवत् सेवा करती है और ऐसा करती हुई भी वह अपने एकनिष्ठ पातिव्रत-धर्मसे जरा भी न गिरकर उलटे शोभा और यशको प्राप्त होती है। वास्तवमें दोष पाप-बुद्धि, भोग-बुद्धि और द्वेष-बुद्धिमें है अथवा व्यभिचार और शत्रुतामें है। यथोचित वैध-सेवा तो कर्तव्य है। इसी प्रकार परमात्माके किसी एक नाम-रूपको अपना परम इष्ट मानकर उसकी अनन्यभावसे भक्ति करते हुए ही अन्यान्य देवोंकी भी अपने इष्टदेवके आज्ञानुसार उसी स्वामीकी

प्रीतिके लिये श्रद्धा और आदरके साथ यथायोग्य सेवा करनी चाहिये। उपर्युक्त अवतरणोंके अनुसार जब एक नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही हैं तथा वास्तवमें उनसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है, तब किसी एक नाम-रूपसे द्वेष या उसकी निन्दा, तिरस्कार और उपेक्षा करना उस परब्रह्मसे ही वैसा करना है। कहीं भी श्रीशिव या श्रीविष्णुने या श्रीब्रह्माने एक-दूसरेकी न तो निन्दा आदि की है और न निन्दा आदि करनेके लिये किसीसे कहा ही है, बल्कि निन्दा आदिका निषेध और तीनोंको एक माननेकी प्रशंसा की है। शिवपुराणमें कहा गया है—

एते परस्परोत्पन्ना धारयन्ति परस्परम्।
परस्परेण वर्धन्ते परस्परमनुव्रताः॥
क्वचिद्ब्रह्मा क्वचिद्विष्णुः क्वचिद्रुद्रः प्रशस्यते।
नानेव तेषामाधिक्यमैश्वर्यं चातिरिच्यते॥
अयं परस्त्वयं नेति संरम्भाभिनिवेशिनः।
यातुधाना भवन्त्येव पिशाचा वा न संशयः॥

'ये तीनों (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) एक-दूसरेसे उत्पन्न हुए हैं, एक-दूसरेको धारण करते हैं, एक दूसरेके द्वारा वृद्धिंगत होते हैं और एक दूसरेके अनुकूल आचरण करते हैं। कहीं ब्रह्माकी प्रशंसा की जाती है, कहीं विष्णुकी और कहीं महादेवकी। उनका उत्कर्ष एवं ऐश्वर्य एक-दूसरेकी अपेक्षा इस प्रकार अधिक कहा है मानो वे अनेक हों। जो संशयात्मा मनुष्य यह विचार करते हैं कि अमुक बड़ा है और अमुक छोटा है वे अगले जन्ममें राक्षस अथवा पिशाच होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

स्वयं भगवान् शिव श्रीविष्णुभगवान्से कहते हैं—

मद्दर्शने फलं यद्वै तदेव तव दर्शने।
ममैव हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये ह्यहम्॥
उभयोरन्तरं यो वै न जानाति मतो मम।

(शिव० ज्ञान० ४। ६१-६२)

****

'मेरे दर्शनका जो फल है वही आपके दर्शनका है। आप मेरे हृदयमें निवास करते हैं और मैं आपके हृदयमें रहता हूँ। जो हम दोनोंमें भेद नहीं समझता, वही मुझे मान्य है।'

भगवान् श्रीराम भगवान् श्रीशिवसे कहते हैं—

ममासि हृदये शर्व भवतो हृदये त्वहम्।
आवयोरन्तरं नास्ति मूढाः पश्यन्ति दुर्धियः॥
ये भेदं विदधत्यद्धा आवयोरेकरूपयोः।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते नराः कल्पसहस्रकम्॥
ये त्वद्भक्ताः सदासंस्ते मद्भक्ता धर्मसंयुताः।
मद्भक्ता अपि भूयस्या भक्त्या तव नतिङ्कराः॥

(पद्म० पाताल० ४६। २०—२२)

'आप शङ्कर मेरे हृदयमें रहते हैं और मैं आपके हृदयमें रहता हूँ। हम दोनोंमें कोई भेद नहीं है। मूर्ख एवं दुर्बुद्धि मनुष्य ही हमारे अंदर भेद समझते हैं। हम दोनों एकरूप हैं, जो मनुष्य हम दोनोंमें भेद-भावना करते हैं वे हजार कल्पपर्यन्त कुम्भीपाक नरकोंमें यातना सहते हैं। जो आपके भक्त हैं वे धार्मिक पुरुष सदा ही मेरे भक्त रहे हैं और जो मेरे भक्त हैं वे प्रगाढ़ भक्तिसे आपको भी प्रणाम करते हैं।'

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी भगवान् श्रीशिवसे कहते हैं—

त्वत्परो नास्ति मे प्रेयांस्त्वं मदीयात्मनः परः।
ये त्वां निन्दन्ति पापिष्ठा ज्ञानहीना विचेतसः॥
पच्यन्ते कालसूत्रेण यावच्चन्द्रदिवाकरौ।
कृत्वा लिङ्गं सकृत्पूज्य वसेत्कल्पायुतं दिवि॥
प्रजावान् भूमिमान् विद्वान् पुत्रबान्धववांस्तथा।
ज्ञानवान्मुक्तिमान् साधुः शिवलिङ्गार्चनाद्भवेत्॥

शिवेति शब्दमुच्चार्य प्राणांस्त्यजति यो नरः।
कोटिजन्मार्जितात् पापान्मुक्तो मुक्तिं प्रयाति सः॥

(ब्रह्मवैवर्त० ६। ३१-३२, ४५, ४७)

'मुझे आपसे बढ़कर कोई प्यारा नहीं है, आप मुझे अपनी आत्मासे भी अधिक प्रिय हैं। जो पापी, अज्ञानी एवं बुद्धिहीन पुरुष आपकी निन्दा करते हैं, जबतक चन्द्र और सूर्यका अस्तित्व रहेगा तबतक कालसूत्रमें (नरकमें) पचते रहेंगे। जो शिवलिङ्गका निर्माण कर एक बार भी उसकी पूजा कर लेता है, वह दस हजार कल्पतक स्वर्गमें निवास करता है, शिवलिङ्गके अर्चनसे मनुष्यको प्रजा, भूमि, विद्या, पुत्र, बान्धव, श्रेष्ठता, ज्ञान एवं मुक्ति सब कुछ प्राप्त हो जाता है। जो मनुष्य 'शिव' शब्दका उच्चारण कर शरीर छोड़ता है वह करोड़ों जन्मोंके सञ्चित पापोंसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है।'

भगवान् विष्णु श्रीमद्भागवत (४। ७। ५४) में दक्षप्रजापतिके प्रति कहते हैं—

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति॥

'हे विप्र! हम तीनों एकरूप हैं और समस्त भूतोंकी आत्मा हैं, हमारे अंदर जो भेद-भावना नहीं करता, निःसन्देह वह शान्ति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।'

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामने कहा है—

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥
औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

ऐसी अवस्थामें जो मनुष्य दूसरेके इष्टदेवकी निन्दा या अपमान करता है, वह वास्तवमें अपने ही इष्टदेवका अपमान या निन्दा करता है। परमात्माकी

प्राप्तिके पूर्वकालमें परमात्माका यथार्थ रूप न जाननेके कारण भक्त अपनी समझके अनुसार अपने उपास्यदेवका जो स्वरूप कल्पित करता है, वास्तवमें उपास्यदेवका स्वरूप उससे अत्यन्त विलक्षण है; तथापि उसकी अपनी बुद्धि, भावना तथा रुचिके अनुसार की हुई सच्ची और श्रद्धायुक्त उपासनाको परमात्मा सर्वथा सर्वांशमें स्वीकार करते हैं; क्योंकि ईश्वर-प्राप्तिके पूर्व ईश्वरका यथार्थ स्वरूप किसीके भी चिन्तनमें नहीं आ सकता। अतएव ईश्वरके किसी भी नाम-रूपकी निष्कामभावसे उपासना करनेवाला पुरुष शीघ्र ही उस नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। हाँ, सकामभावसे उपासना करनेवालेको विलम्ब हो सकता है। तथापि सकामभावसे उपासना करनेवाला भी श्रेष्ठ और उदार ही माना गया है (गीता ७। १८), क्योंकि अन्तमें वह भी ईश्वरको ही प्राप्त होता है। **'मद्भक्ता यान्ति मामपि'** (गीता ७। २३)।

'शिव' शब्द नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माका वाचक है। यह उच्चारणमें बहुत ही सरल, अत्यन्त मधुर और स्वाभाविक ही शान्तिप्रद है। 'शिव' शब्दकी उत्पत्ति 'वश कान्तौ' धातुसे हुई है, जिसका तात्पर्य यह है कि जिसको सब चाहते हैं उसका नाम 'शिव' है। सब चाहते हैं अखण्ड आनन्दको। अतएव 'शिव' शब्दका अर्थ आनन्द हुआ। जहाँ आनन्द है वहीं शान्ति है और परम आनन्दको ही परम मङ्गल और परम कल्याण कहते हैं, अतएव 'शिव' शब्दका अर्थ परम मङ्गल, परम कल्याण समझना चाहिये। इस आनन्ददाता, परम कल्याणरूप शिवको ही शङ्कर कहते हैं। 'शं' आनन्दको कहते हैं और 'कर' से करनेवाला समझा जाता है, अतएव जो आनन्द करता है वही 'शङ्कर' है। ये सब लक्षण उस नित्य विज्ञानानन्दघन परम ब्रह्मके ही हैं।

इस प्रकार रहस्य समझकर शिवकी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उपासना करनेसे उनकी कृपासे उनका तत्त्व समझमें आ जाता है। जो पुरुष शिव-तत्त्वको जान लेता है उसके लिये फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। शिव-तत्त्वको हिमालयतनया भगवती पार्वती यथार्थरूपसे जानती थीं, इसीलिये छद्मवेषी

स्वयं शिवके बहकानेसे भी वे अपने सिद्धान्तसे तिलमात्र भी नहीं टलीं। उमा शिवका यह संवाद बहुत ही उपदेशप्रद और रोचक है।

शिवतत्त्वैकनिष्ठ पार्वती शिवप्राप्तिके लिये घोर तप करने लगीं। माता मेनकाने स्नेहकातरा होकर उ (वत्से !) मा (ऐसा तप न करो) कहा, इससे उसका नाम 'उमा' हो गया। उन्होंने सूखे पत्ते भी खाने छोड़ दिये, तब उनका 'अपर्णा' नाम पड़ा। उनकी कठोर तपस्याको देख-सुनकर परम आश्चर्यान्वित हो ऋषिगण भी कहने लगे कि 'अहो, इसको धन्य है, इसकी तपस्याके सामने दूसरोंकी तपस्या कुछ भी नहीं है।' पार्वतीकी इस तपस्याको देखनेके लिये एक समय स्वयं भगवान् शिव जटाधारी वृद्ध ब्राह्मणके वेषमें तपोभूमिमें आये और पार्वतीके द्वारा फल-पुष्पादिसे पूजित होकर उसके तपका उद्देश्य शिवसे विवाह करना है, यह जानकर कहने लगे—

'हे देवि ! इतनी देर बातचीत करनेसे तुमसे मेरी मित्रता हो गयी है। मित्रताके नाते मैं तुमसे कहता हूँ, तुमने बड़ी भूल की है। तुम्हारा शिवके साथ विवाह करनेका सङ्कल्प सर्वथा अनुचित है। तुम सोनेको छोड़कर काँच चाह रही हो, चन्दन त्यागकर कीचड़ पोतना चाहती हो। हाथी छोड़कर बैलपर मन चलाती हो। गङ्गाजल परित्याग कर कुएँका जल पीनेकी इच्छा करती हो। सूर्यका प्रकाश छोड़कर खद्योतको और रेशमी वस्त्र त्याग कर चमड़ा पहनना चाहती हो। तुम्हारा यह कार्य तो देवताओंकी सन्निधिका त्याग कर असुरोंका साथ करनेके समान है। उत्तमोत्तम देवोंको छोड़कर शङ्करपर अनुराग करना सर्वथा लोकविरुद्ध है।

'जरा सोचो तो सही, कहाँ तुम्हारा कुसुम-सुकुमार शरीर और त्रिभुवन-कमनीय सौन्दर्य और कहाँ जटाधारी, चिताभस्मलेपनकारी, श्मशानविहारी, त्रिनेत्र, भूतपति महादेव ! कहाँ तुम्हारे घरके देवतालोग और कहाँ शिवके पार्षद भूत-प्रेत ! कहाँ तुम्हारे पिताके घरके बजनेवाले सुन्दर बाजोंकी ध्वनि और कहाँ उस महादेवके डमरू, सिंगी और गाल बजानेकी ध्वनि ! न

महादेवके माँ-बापका पता है, न जातिका ! दरिद्रता इतनी कि पहननेको कपड़ातक नहीं है ! दिगम्बर रहते हैं, बैलकी सवारी करते हैं और बाघका चमड़ा ओढ़े रहते हैं ! न उनमें विद्या है और न शौचाचार ही है। सदा अकेले रहनेवाले, उत्कट विरागी, मुण्डमालाधारी महादेवके साथ रहकर तुम क्या सुख पाओगी ?'

पार्वती और अधिक शिव-निन्दा न सह सकीं। वे तमककर बोलीं— 'बस, बस, बस रहने दो, मैं और अधिक सुनना नहीं चाहती। मालूम होता है, तुम शिवके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानते। इसीसे यों मिथ्या प्रलाप कर रहे हो। तुम किसी धूर्त ब्रह्मचारीके रूपमें यहाँ आये हो। शिव वस्तुतः निर्गुण हैं, करुणावश ही वे सगुण होते हैं। उन सगुण और निर्गुण—उभयात्मक शिवकी जाति कहाँसे होगी ? जो सबके आदि हैं, उनके माता-पिता कौन होंगे और उनकी उम्रका ही क्या परिमाण बाँधा जा सकता है ? सृष्टि उनसे उत्पन्न होती है, अतएव उनकी शक्तिका पता कौन लगा सकता है ? वही अनादि, अनन्त, नित्य, निर्विकार, अज, अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणाधार, सर्वज्ञ, सर्वोपरि, सनातनदेव हैं। तुम कहते हो, महादेव विद्याहीन हैं। अरे, ये सारी विद्याएँ आयी कहाँसे हैं ? वेद जिनके निःश्वास हैं उन्हें तुम विद्याहीन कहते हो ? छिः ! छिः !! तुम मुझे शिवको छोड़कर किसी अन्य देवताका वरण करनेको कहते हो। अरे, इन देवताओंको जिन्हें तुम बड़ा समझते हो, देवत्व प्राप्त ही कहाँसे हुआ ? यह उन भोलेनाथकी ही कृपाका तो फल है। इन्द्रादि देवगण तो उनके दरवाजेपर ही स्तुति-प्रार्थना करते रहते हैं और बिना उनके गणोंकी आज्ञाके अंदर घुसनेका साहस नहीं कर सकते। तुम उन्हें अमङ्गलवेष कहते हो ? अरे, उनका 'शिव'—यह मङ्गलमय नाम जिनके मुखमें निरन्तर रहता है, उनके दर्शनमात्रसे सारी अपवित्र वस्तुएँ भी पवित्र हो जाती हैं, फिर भला स्वयं उनकी तो बात ही क्या है ? जिस चिताभस्मकी तुम निन्दा करते हो, नृत्यके अन्तमें जब वह उनके अङ्गोंसे झड़ती है उस समय

****

देवतागण उसे अपने मस्तकोंपर धारण करनेको लालायित होते हैं। बस, मैंने समझ लिया, तुम उनके तत्त्वको बिलकुल नहीं जानते। जो मनुष्य इस प्रकार उनके दुर्गम तत्त्वको बिना जाने उनकी निन्दा करते हैं, उनके जन्म-जन्मान्तरोंके सञ्चित किये हुए पुण्य विलीन हो जाते हैं। तुम-जैसे शिव-निन्दकका सत्कार करनेसे भी पाप लगता है। शिवनिन्दकको देखकर भी मनुष्यको सचैल स्नान करना चाहिये, तभी वह शुद्ध होता है। बस, अब मैं यहाँसे जाती हूँ। कहीं ऐसा न हो कि यह दुष्ट फिरसे शिवकी निन्दा प्रारम्भ कर मेरे कानोंको अपवित्र करे। शिवकी निन्दा करनेवालेको तो पाप लगता ही है, उसे सुननेवाला भी पापका भागी होता है।' यह कहकर उमा वहाँसे चल दीं। ज्यों ही वे वहाँसे जाने लगीं, वटु वेषधारी शङ्करने उन्हें रोक लिया। वे अधिक देरतक पार्वतीसे छिपे न रह सके, पार्वती जिस रूपका ध्यान करती थीं उसी रूपमें उनके सामने प्रकट हो गये और बोले—'मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, वर माँगो।'

पार्वतीकी इच्छा पूर्ण हुई, उन्हें साक्षात् शिवके दर्शन हुए। दर्शन ही नहीं, कुछ कालमें शिवने पार्वतीका पाणिग्रहण कर लिया।

जो पुरुष उन त्रिनेत्र, व्याघ्राम्बरधारी, सदाशिव परमात्माको निर्गुण, निराकार एवं सगुण, निराकार समझकर उनकी सगुण, साकार दिव्य मूर्तिकी उपासना करता है, उसीकी उपासना सच्ची और सर्वाङ्गपूर्ण है। इस समग्रतामें जितना अंश कम होता है, उतनी ही उपासनाकी सर्वाङ्गपूर्णतामें कमी है और उतना ही वह शिव-तत्त्वसे अनभिज्ञ है।

महेश्वरकी लीलाएँ अपरम्पार हैं। वे दया करके जिनको अपनी लीलाएँ और लीलाओंका रहस्य जनाते हैं, वही जान सकते हैं। उनकी कृपाके बिना तो उनकी विचित्र लीलाओंको देख-सुनकर देवी, देवता एवं मुनियोंको भी भ्रम हो जाया करता है, फिर साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है? परन्तु वास्तवमें शिवजी महाराज हैं बड़े ही आशुतोष! उपासना करनेवालोंपर बहुत ही शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। रहस्यको जानकर निष्काम-प्रेमभावसे भजनेवालों-

पर प्रसन्न होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है ? सकामभावसे, अपना मतलब गाँठनेके लिये जो अज्ञानपूर्वक उपासना करते हैं उनपर भी आप रीझ जाते हैं, भोले भण्डारी मुँहमाँगा वरदान देनेमें कुछ भी आगा-पीछा नहीं सोचते । जरा-सी भक्ति करनेवालेपर ही आपके हृदयका दयासमुद्र उमड़ पड़ता है । इस रहस्यको समझनेवाले आपको व्यङ्गसे 'भोलानाथ' कहा करते हैं । इस विषयमें गोसाईं तुलसीदासजी महाराजकी कल्पना बहुत ही सुन्दर है । वे कहते हैं—

बावरो रावरो नाह भवानी ।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद-बड़ाई भानी ।।
निज घरकी बरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी ।
सिवकी दई सम्पदा देखत, श्रीसारदा सिहानी ।।
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुखकी नहीं निसानी ।
तिन रंकनकौ नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी ।।
दुख-दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी ।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी ।।
प्रेम-प्रसंसा-बिनय-ब्यंगजुत, सुनि बिधिकी बर बानी ।
तुलसी मुदित महेस मनहिं मन, जगत-मातु मुसुकानी ।।

ऐसे भोलेनाथ भगवान् शङ्करको जो प्रेमसे नहीं भजते, वास्तवमें वे शिवके तत्त्वको नहीं जानते, अतएव उनका मनुष्य-जन्म लेना ही व्यर्थ है । इससे अधिक उनके लिये और क्या कहा जाय । अतएव प्रिय पाठकगणो! आपलोगोंसे मेरा नम्र निवेदन है, यदि आपलोग उचित समझें तो नीचे लिखे साधनोंको समझकर यथाशक्ति उन्हें काममें लानेकी चेष्टा करें—

(क) पवित्र और एकान्त स्थानमें गीता अध्याय ६, श्लोक १० से १४ के अनुसार भगवान् शिवकी शरण होकर—

(१) भगवान् शङ्करके प्रेम, रहस्य, गुण और प्रभावकी अमृतमयी कथाओंका उनके तत्त्वको जाननेवाले भक्तोंद्वारा श्रवण करके, मनन करना एवं

स्वयं भी सत्-शास्त्रोंको पढ़कर उनका रहस्य समझनेके लिये मनन करना और उनके अनुसार आचरण करनेके लिये प्राणपर्यन्त कोशिश करना।

(२) भगवान् शिवकी शान्त-मूर्तिका पूजन-वन्दनादि श्रद्धा और प्रेमसे नित्य करना।

(३) भगवान् शङ्करमें अनन्य प्रेम होनेके लिये विनय-भावसे रुदन करते हुए गद्गद वाणीद्वारा स्तुति और प्रार्थना करना।

(४) 'ॐ नमः शिवाय'—इस मन्त्रका मनके द्वारा या श्वासोंके द्वारा प्रेमभावसे गुप्त जप करना।

(५) उपर्युक्त रहस्यको समझकर प्रभावसहित यथारुचि भगवान् शिवके स्वरूपका श्रद्धा-भक्तिसहित निष्कामभावसे ध्यान करना।

(ख) व्यवहारकालमें—

(१) स्वार्थको त्यागकर प्रेमपूर्वक सबके साथ सद्-व्यवहार करना।

(२) भगवान् शिवमें प्रेम होनेके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार फलासक्तिको त्यागकर शास्त्रानुकूल यथाशक्ति यज्ञ, दान, तप, सेवा एवं वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाके कर्मोंको करना।

(३) सुख, दुःख एवं सुख-दुःखकारक पदार्थोंकी प्राप्ति और विनाशको शङ्करकी इच्छासे हुआ समझकर उनमें पद-पदपर भगवान् सदाशिवकी दयाका दर्शन करना।

(४) रहस्य और प्रभावको समझकर श्रद्धा और निष्काम प्रेमभावसे यथारुचि भगवान् शिवके स्वरूपका निरन्तर ध्यान होनेके लिये चलते-फिरते, उठते-बैठते उस शिवके नाम-जपका अभ्यास सदा-सर्वदा करना।

(५) दुर्गुण और दुराचारको त्यागकर सद्गुण और सदाचारके उपार्जनके लिये हर समय कोशिश करते रहना।

उपर्युक्त साधनोंको मनुष्य कटिबद्ध होकर ज्यों-ज्यों करता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसके अन्तःकरणकी पवित्रता, रहस्य और प्रभावका अनुभव तथा अतिशय श्रद्धा एवं विशुद्ध प्रेमकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जाती है। इसलिये कटिबद्ध होकर उपर्युक्त साधनोंको करनेके लिये कोशिश करनी चाहिये। इन सब साधनोंमें भगवान् सदाशिवका प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना सबसे बढ़कर है। अतएव नाना प्रकारके कर्मोंके बाहुल्यके कारण उसके चिन्तनमें एक क्षणकी भी बाधा न आवे, इसके लिये विशेष सावधान रहना चाहिये। यदि अनन्य प्रेमकी प्रगाढ़ताके कारण शास्त्रानुकूल कर्मोंके करनेमें कहीं कमी आती हो तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु प्रेममें बाधा नहीं पड़नी चाहिये। क्योंकि जहाँ अनन्य प्रेम है। वहाँ भगवान्‌का चिन्तन (ध्यान) तो निरन्तर होता ही है और उस ध्यानके प्रभावसे पद-पदपर भगवान्‌की दयाका अनुभव करता हुआ मनुष्य भगवान् सदाशिवके तत्त्वको यथार्थरूपसे समझकर कृतकृत्य हो जाता है, अर्थात् परमपदको प्राप्त हो जाता है। अतएव भगवान् शिवके प्रेम और प्रभावको समझकर उनके स्वरूपका निष्काम प्रेमभावसे निरन्तर चिन्तन होनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

═══ ★ ═══

शक्तिका रहस्य

शक्तिके विषयमें कुछ लिखनेके लिये भाई हनुमानप्रसाद पोद्दारने प्रेरणा की, किन्तु 'शक्ति' शब्द बहुव्यापक होनेके कारण इसके रहस्यको समझानेकी मैं अपनेमें शक्ति नहीं देखता; तथापि इनके आग्रहसे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार यत्किञ्चित् लिख रहा हूँ।

शक्तिके रूपमें ब्रह्मकी उपासना

शास्त्रोंमें 'शक्ति' शब्दके प्रसङ्गानुसार अलग-अलग अर्थ किये गये हैं। तान्त्रिकलोग इसीको पराशक्ति कहते हैं और इसीको विज्ञानानन्दघन ब्रह्म मानते हैं। वेद, शास्त्र, उपनिषद्, पुराण आदिमें भी 'शक्ति' शब्दका प्रयोग देवी, पराशक्ति, ईश्वरी, मूलप्रकृति आदि नामोंसे विज्ञानानन्दघन निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्मके लिये भी किया गया है ? विज्ञानानन्दघन ब्रह्मका तत्त्व अतिसूक्ष्म एवं गुह्य होनेके कारण शास्त्रोंमें उसे नाना प्रकारसे समझानेकी चेष्टा की गयी है। इसलिये 'शक्ति' नामसे ब्रह्मकी उपासना करनेसे भी परमात्माकी ही प्राप्ति होती है। एक ही परमात्मतत्त्वकी निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, देव, देवी, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, राम, कृष्ण आदि अनेक नाम-रूपसे भक्तलोग उपासना करते हैं। रहस्यको जानकर शास्त्र और आचार्योंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार उपासना करनेवाले सभी भक्तोंको उसकी प्राप्ति हो सकती है। उस दयासागर प्रेममय सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वरको सर्वोपरि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण, गुणाधार, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा समझकर श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमसे उपासना करना ही उसके रहस्यको जानकर

उपासना करना है, इसलिये श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उस विज्ञानानन्दस्वरूपा महाशक्ति भगवती देवीकी उपासना करनी चाहिये। वह निर्गुणस्वरूपा देवी जीवोंपर दया करके स्वयं ही सगुणभावको प्राप्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपसे उत्पत्ति, पालन और संहारकार्य करती है।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—

त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
त्वमेवाद्या सृष्टिविधौ स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका॥
कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥
तेजःस्वरूपा परमा भक्तानुग्रहविग्रहा।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा॥
सर्वबीजस्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमङ्गलमङ्गला॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० २। ६६। ७-१०)

'तुम्हीं विश्वजननी मूलप्रकृति ईश्वरी हो, तुम्हीं सृष्टिकी उत्पत्तिके समय आद्याशक्तिके रूपमें विराजमान रहती हो और स्वेच्छासे त्रिगुणात्मिका बन जाती हो। यद्यपि वस्तुतः तुम स्वयं निर्गुण हो तथापि प्रयोजनवश सगुण हो जाती हो। तुम परब्रह्मस्वरूप, सत्य, नित्य एवं सनातनी हो। परमतेजस्वरूप और भक्तोंपर अनुग्रह करनेके हेतु शरीर धारण करती हो। तुम सर्वस्वरूपा, सर्वेश्वरी सर्वाधार एवं परात्पर हो। तुम सर्वबीजस्वरूप, सर्वपूज्या एवं आश्रयरहित हो। तुम सर्वज्ञ, सर्वप्रकारसे मङ्गल करनेवाली एवं सर्व मङ्गलोंकी भी मङ्गल हो।'

उस ब्रह्मरूप चेतनशक्तिके दो स्वरूप हैं—एक निर्गुण और दूसरा सगुण। सगुणके भी दो भेद हैं— एक निराकार और दूसरा साकार। इसीसे सारे संसारकी उत्पत्ति होती है। उपनिषदोंमें इसीको पराशक्तिके नामसे कहा गया है।

तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरसः किन्नरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वशक्तिमजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किञ्चैतत्प्राणि स्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत्। सैषा परा शक्तिः।

(बह्वृचोपनिषद्)

'उस पराशक्तिसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उत्पन्न हुए। उसीसे सब मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सराएँ और बाजा बजानेवाले किन्नर सब ओरसे उत्पन्न हुए। समस्त भोग्य पदार्थ और अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, जरायुज जो कुछ भी स्थावर, जङ्गम मनुष्यादि प्राणिमात्र उसी पराशक्तिसे उत्पन्न हुए। ऐसी वह पराशक्ति है।'

ऋग्वेदमें भगवती कहती है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्य-
हमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्य-
हमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

(ऋग्वेद० अष्टक ८।७।११)

अर्थात् 'मैं रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वेदेवोंके रूपमें विचरती हूँ। वैसे ही मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विनीकुमारोंके रूपको धारण करती हूँ।'

ब्रह्मसूत्रमें भी कहा है कि—

'सर्वोपेता तद्दर्शनात्' (द्वि० अ० प्रथमपाद ३०)

'वह पराशक्ति सर्वसामर्थ्यसे युक्त है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।'

यहाँ भी ब्रह्मका वाचक स्त्रीलिङ्ग शब्द आया है। ब्रह्मकी व्याख्या शास्त्रोंमें स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग आदि सभी लिङ्गोंमें की गयी है। इसलिये महाशक्तिके नामसे भी ब्रह्मकी उपासना की जा सकती है। बंगालमें श्रीरामकृष्ण परमहंसने माँ, भगवती, शक्तिके रूपमें ब्रह्मकी उपासना की थी।

वे परमेश्वरको माँ, तारा, काली आदि नामोंसे पुकारा करते थे। और भी बहुत-से महात्मा पुरुषोंने स्त्रीवाचक नामोंसे विज्ञानानन्दघन परमात्माकी उपासना की है। ब्रह्मकी महाशक्तिके रूपमें श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावसे उपासना करनेसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

शक्ति और शक्तिमान्‌की उपासना

बहुत-से सज्जन इसको भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति मानते हैं। महेश्वरी, जगदीश्वरी, परमेश्वरी भी इसीको कहते हैं। लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, राधा, सीता आदि सभी इस शक्तिके ही रूप हैं। माया, महामाया, मूलप्रकृति, विद्या, अविद्या आदि भी इसीके रूप हैं। परमेश्वर शक्तिमान् है और भगवती परमेश्वरी उसकी शक्ति है। शक्तिमान्‌से शक्ति अलग होनेपर भी अलग नहीं समझी जाती। जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निसे भिन्न नहीं है। यह सारा संसार शक्ति और शक्तिमान्‌से परिपूर्ण है और उसीसे इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं। इस प्रकार समझकर वे लोग शक्तिमान् और शक्ति युगलकी उपासना करते हैं। प्रेमस्वरूपा भगवती ही भगवान्‌को सुगमतासे मिला सकती है। इस प्रकार समझकर कोई-कोई केवल भगवतीकी ही उपासना करते हैं। इतिहास-पुराणादिमें सब प्रकारके उपासकोंके लिये प्रमाण भी मिलते हैं।

इस महाशक्तिरूपा जगज्जननीकी उपासना लोग नाना प्रकारसे करते हैं। कोई तो इस महेश्वरीको ईश्वरसे भिन्न समझते हैं और कोई अभिन्न मानते हैं। वास्तवमें तत्त्वको समझ लेना चाहिये। फिर चाहे जिस प्रकार उपासना करे कोई हानि नहीं है। तत्त्वको समझकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक उपासना करनेसे सभी उस एक प्रेमास्पद परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं।

सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी उपासना

श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहासादि शास्त्रोंमें इस गुणमयी विद्या-अविद्यारूपा मायाशक्तिको प्रकृति, मूल प्रकृति, महामाया, योगमाया आदि अनेक नामोंसे कहा है। उस मायाशक्तिकी व्यक्त और अव्यक्त यानी साम्यावस्था तथा

विकृतावस्था दो अवस्थाएँ हैं। उसे कार्य, कारण एवं व्याकृत, अव्याकृत भी कहते हैं। तेईस तत्त्वोंके विस्तारवाला यह सारा संसार तो उसका व्यक्त स्वरूप है। जिससे सारा संसार उत्पन्न होता है और जिसमें यह लीन हो जाता है वह उसका अव्यक्त स्वरूप है।

अव्यक्ताद्व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

(गीता ८। १८)

अर्थात् 'सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं।'

संसारकी उत्पत्तिका कारण कोई परमात्माको और कोई प्रकृतिको तथा कोई प्रकृति और परमात्मा दोनोंको बतलाते हैं। विचार करके देखनेसे सभीका कहना ठीक है। जहाँ संसारकी रचयिता प्रकृति है वहाँ समझना चाहिये कि पुरुषके सकाशसे ही गुणमयी प्रकृति संसारको रचती है।

मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९। १०)

अर्थात् 'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है और इस ऊपर कहे हुए हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है।'

जहाँ संसारका रचयिता परमेश्वर है वहाँ सृष्टिके रचनेमें प्रकृति द्वार है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुन: पुन:।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

(गीता ९। ८)

अर्थात् 'अपनी त्रिगुणमयी मायाको अङ्गीकार करके स्वभावके वशसे

परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बारंबार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ।'

वास्तवमें प्रकृति और पुरुष दोनोंके संयोगसे ही चराचर संसारकी उत्पत्ति होती है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(गीता १४।३)

अर्थात् 'हे अर्जुन! मेरी महद्ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।'

क्योंकि विज्ञानानन्दघन, गुणातीत परमात्मा निर्विकार होनेके कारण उसमें क्रियाका अभाव है और त्रिगुणमयी माया जड होनेके कारण उसमें भी क्रियाका अभाव है। इसलिये परमात्माके सकाशसे जब प्रकृतिमें स्पन्द होता है तभी संसारकी उत्पत्ति होती है। अतएव प्रकृति और परमात्माके संयोगसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। महाप्रलयमें कार्यसहित तीनों गुण कारणमें लय हो जाते हैं तब उस प्रकृतिकी अव्यक्तस्वरूप साम्यावस्था हो जाती है। उस समय सारे जीव स्वभाव, कर्म और वासनासहित उस मूल प्रकृतिमें तन्मय-से हुए अव्यक्तरूपसे स्थित रहते हैं। प्रलयकालकी अवधि समाप्त होनेपर उस माया-शक्तिमें ईश्वरके सकाशसे स्फूर्ति होती है, तब विकृत अवस्थाको प्राप्त हुई प्रकृति तेईस तत्त्वोंके रूपमें परिणत हो जाती है, तब उसे व्यक्त कहते हैं। फिर ईश्वरके सकाशसे ही वह गुण, कर्म और वासनाके अनुसार फल भोगनेके लिये चराचर जगत्को रचती है।

त्रिगुणमयी प्रकृति और परमात्माका परस्पर आधेय और आधार एवं व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध है। प्रकृति आधेय और परमात्मा आधार है। प्रकृति

व्याप्य और परमात्मा व्यापक है। नित्य चेतन, विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी एक अंशमें चराचर जगत्‌के सहित प्रकृति है। जैसे तेज, जल, पृथ्वीके सहित वायु आकाशके आधार है, वैसे ही यह परमात्माके आधार है। जैसे बादल आकाशसे व्याप्त है, वैसे ही परमात्मासे प्रकृतिसहित यह सारा संसार व्याप्त है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

(गीता ९। ६)

अर्थात् 'जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे सङ्कल्पद्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मेरेमें स्थित हैं—ऐसे जान।'

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०। ४२)

अर्थात् 'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

ईशा वास्यमिदँ् सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्॥

(ईश० १)

अर्थात् 'त्रिगुणमयी मायामें स्थित यह सारा चराचर जगत् ईश्वरसे व्याप्त है।'

किन्तु उस त्रिगुणमयी मायासे वह लिपायमान नहीं होता; क्योंकि विज्ञानानन्दघन परमात्मा गुणातीत, केवल और सबका साक्षी है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

****

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

(श्वेता० ६। ११)

अर्थात् 'जो देव सब भूतोंमें छिपा हुआ, सर्वव्यापक, सर्वभूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, सब भूतोंका आश्रय, सबका साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण यानी सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंसे परे है, वह एक है।'

इस प्रकार गुणोंसे अतीत परमात्माको अच्छी प्रकार जानकर मनुष्य इस संसारके सारे दुःखों और क्लेशोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसके जाननेके लिये सबसे सहज उपाय उस परमेश्वरकी अनन्य शरण है। इसलिये उस सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्द परमात्माकी सर्वप्रकारसे शरण होना चाहिये।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

(गीता ७। १४)

अर्थात् 'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

विद्या-अविद्यारूप त्रिगुणमयी यह महामाया बड़ी विचित्र है। इसे कोई अनादि, अनन्त और कोई अनादि, सान्त मानते हैं तथा कोई इसको सत् और कोई असत् कहते हैं एवं कोई इसको ब्रह्मसे अभिन्न और कोई इसे ब्रह्मसे भिन्न बतलाते हैं। वस्तुतः यह माया बड़ी विलक्षण है, इसलिये इसको अनिर्वचनीय कहा है।

अविद्या—दुराचार, दुर्गुणरूप, आसुरी, राक्षसी, मोहिनी प्रकृति, महत्तत्त्वका कार्यरूप यह सारा दृश्यवर्ग इसीका विस्तार है।

विद्या—भक्ति, पराभक्ति, ज्ञान, विज्ञान, योग, योगमाया, समष्टि बुद्धि

शुद्ध बुद्धि, सूक्ष्म बुद्धि, सदाचार, सद्गुणरूप दैवी सम्पदा यह सब इसीका विस्तार है।

जैसे ईंधनको भस्म करके अग्नि स्वतः शान्त हो जाता है, वैसे ही अविद्याका नाश करके विद्या स्वतः ही शान्त हो जाती है, ऐसे मानकर यदि मायाको अनादि-सान्त बतलाया जाय तो यह दोष आता है कि यह माया आजसे पहले ही सान्त हो जानी चाहिये थी। यदि कहें भविष्यमें सान्त होनेवाली है तो फिर इससे छूटनेके लिये प्रयत्न करनेकी क्या आवश्यकता है? इसके सान्त होनेपर सारे जीव अपने-आप ही मुक्त हो जायँगे। फिर भगवान् किसलिये कहते हैं कि यह त्रिगुणमयी मेरी माया तरनेमें बड़ी दुस्तर है; किन्तु जो मेरी शरण हो जाते हैं, वे इस मायाको तर जाते हैं।

यदि इस मायाको अनादि, अनन्त बतलाया जाय तो इसका सम्बन्ध भी अनादि, अनन्त होना चाहिये। सम्बन्ध अनादि, अनन्त मान लेनेसे जीवका कभी छुटकारा हो ही नहीं सकता और भगवान् कहते हैं कि क्षेत्र, क्षेत्रज्ञके अन्तरको तत्त्वसे समझ लेनेपर जीव मुक्त हो जाता है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(गीता १३। ३४)

अर्थात् 'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको * तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

इसलिये इस मायाको अनादि, अनन्त भी नहीं माना जा सकता। इसे न तो सत् ही कहा जा सकता है और न असत् ही। असत् तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि इसका विकाररूप यह सारा संसार प्रत्यक्ष प्रतीत होता

---

*क्षेत्रको जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् तथा क्षेत्रज्ञको नित्य, चेतन, अविकारी और अविनाशी जानना ही उनके भेदको जानना है।

है और सत् इसलिये नहीं बतलाया जाता कि यह दृश्य जडवर्ग सर्वदा परिवर्तनशील होनेके कारण इसकी नित्य सम स्थिति नहीं देखी जाती।

इस मायाको परमेश्वरसे अभिन्न भी नहीं कह सकते; क्योंकि माया यानी प्रकृति जड, दृश्य, दुःखरूप विकारी है और परमात्मा चेतन, द्रष्टा, नित्य, आनन्दरूप और निर्विकार हैं। दोनों अनादि होनेपर भी परस्पर इनका बड़ा भारी अन्तर है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

(श्वेता० ४।१०)

'त्रिगुणमयी मायाको तो प्रकृति (तेईस तत्त्व जडवर्गका कारण) तथा मायापतिको महेश्वर जानना चाहिये।'

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

(श्वेता० ५।१)

'जिस सर्वव्यापी, अनन्त, अविनाशी, परब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मामें विद्या, अविद्या दोनों गूढभावसे स्थित हैं। अविद्या क्षर है, विद्या अमृत है (क्योंकि विद्यासे अविद्याका नाश होता है) तथा जो विद्या, अविद्यापर शासन करनेवाला है, वह परमात्मा दोनोंसे ही अलग है।'

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(गीता १५।१८)

अर्थात् 'क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और मायामें स्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

तथा इस मायाको परमेश्वरसे भिन्न भी नहीं कह सकते। क्योंकि वेद और शास्त्रोंमें इसे ब्रह्मका रूप बतलाया है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३।१४।१)

'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता ७।१९)

'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९।१९)

तथा माया ईश्वरकी शक्ति है और शक्तिमान्से शक्ति अभिन्न होती है। जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निसे अभिन्न है, इसलिये परमात्मासे इसे भिन्न भी नहीं कह सकते।

चाहे जैसे हो तत्त्वको समझकर उस परमात्माकी उपासना करनी चाहिये। तत्त्वको समझकर की हुई उपासना ही सर्वोत्तम है। जो उस परमेश्वरको तत्त्वसे समझ जाता है, वह उसको एक क्षण भी नहीं भूल सकता; क्योंकि सब कुछ परमात्मा ही है। इस प्रकार समझनेवाला परमात्माको कैसे भूल सकता है? अथवा जो परमात्माको सारे संसारसे उत्तम समझता है, वह भी परमात्माको छोड़कर दूसरी वस्तुको कैसे भज सकता है? यदि भजता है तो परमात्माके तत्त्वको नहीं जानता; क्योंकि यह नियम है कि मनुष्य जिसको उत्तम समझता है उसीको भजता है यानी ग्रहण करता है।

मान लीजिये एक पहाड़ है। उसमें लोहे, ताँबे, शीशे और सोनेकी चार खानें हैं। किसी ठेकेदारने परिमित समयके लिये उन खानोंको ठेकेपर ले लिया और वह उससे माल निकालना चाहता है तथा चारों धातुओंमेंसे किसीको भी निकाले, समय करीब-करीब बराबर ही लगता है। इन चारोंकी कीमतको जाननेवाला ठेकेदार सोनेके रहते हुए सोनेको छोड़कर क्या लोहा, ताँबा, शीशा निकालनेके लिये अपना समय लगा सकता है? कभी नहीं। सर्व प्रकारसे वह तो केवल सुवर्ण ही निकालेगा। वैसे ही माया और परमेश्वरके तत्त्वको जाननेवाला परमेश्वरको छोड़कर नाशवान् क्षणभङ्गुर भोग और अर्थके लिये अपने अमूल्य समयको कभी नहीं लगा सकता। वह सब प्रकारसे निरन्तर

परमात्माको ही भजेगा।

गीतामें भी कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५।१९)

अर्थात् 'हे अर्जुन! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

इस प्रकार ईश्वरकी अनन्य भक्ति करनेसे मनुष्य परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है। इसलिये श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमभावसे नित्य निरन्तर परमेश्वरका भजन, ध्यान करनेके लिये प्राणपर्यन्त प्रयत्नशील रहना चाहिये।

गीतामें चतुर्भुज रूप

एक सज्जनका प्रश्न है कि भगवान्‌ने गीताके ११वें अध्यायके ४५वें और ४६वें श्लोकमें अर्जुनके प्रार्थना करनेपर कौन-सा रूप दिखलाया ? वह मनुष्यरूप था या देवरूप ? यदि देवरूप था तो अर्जुनने ४१वें एवं ४२वें श्लोकमें प्रभाव नहीं जाननेकी बात कैसे कही ?

उत्तर

श्रीमद्भगवद्गीताके ११वें अध्यायके ४५वें श्लोकमें अर्जुनने कहा है—

तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

इस श्लोकार्धका अर्थ—'हे देव ! आप उसी रूपको मेरे लिये दिखलाइये, हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये' यह भी हो सकता है, और 'हे देवेश ! आप उसी देवरूपको मेरे लिये दिखलाइये, हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये' यह भी हो सकता है। 'देव' शब्दके साथ 'रूपम्' का समास कर देनेसे 'देवरूप' स्पष्ट हो जाता है। अलग-अलग रखनेसे 'देव' सम्बोधन हो जाता है। वहीं 'देवेश' सम्बोधन है इसलिये 'देव' सम्बोधनकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु यदि 'देव' सम्बोधन मान लिया तो भी कोई आपत्ति नहीं है। प्रायः संस्कृत टीकाकारोंने सम्बोधन ही माना है। ऐसा मानकर भी अर्जुनकी प्रार्थनाका भाव 'देवरूप' दिखलानेमें ही है ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि ४६वें श्लोकमें अर्जुन स्पष्ट कहते हैं—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥

'मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए, गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उस ही चतुर्भुजरूपसे युक्त हो जाइये।'

भगवान् श्रीकृष्ण भी समय-समयपर चतुर्भुजरूपसे, केवल अर्जुनको ही नहीं, दूसरोंको भी दर्शन दिया करते थे, जिसके लिये महाभारत और भागवत आदि ग्रन्थोंमें प्रमाण मिलते हैं—

पर्यङ्कादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः ।

(श्रीमद्भा० १० । ६० । २६)

'पलंगसे शीघ्र उतरकर नीचे पड़ी हुई रुक्मिणीको चतुर्भुज भगवान्ने उठाया।'

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ।।

(श्रीमद्भा० १० । ८६ । ५४)

'यह मेरा चतुर्भुजरूप भी मुझे ब्राह्मणोंसे अधिक प्रिय नहीं है क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय हैं और मैं सर्वदेवमय हूँ।'

तया स सम्यक् प्रतिनन्दितस्तत-
स्तथैव सर्वैर्विदुरादिभिस्तथा ।
विनिर्ययौ नागपुराद्गदाग्रजो
रथेन दिव्येन चतुर्भुजः स्वयम् ।।

(महा० आश्व० ५२ । ५४)

'कुन्तीने भलीभाँति आशीर्वाद दिया, विदुर आदि सबने सम्मान किया; तब चतुर्भुज श्रीकृष्ण स्वयं दिव्य रथमें बैठकर हस्तिनापुरसे बाहर निकले।'

सोऽयं पुरुषशार्दूलो मेघवर्णश्चतुर्भुजः ।
संश्रितः पाण्डवान् प्रेम्णा भवन्तश्चैनमाश्रिताः ।।

(महा० अनु० १४८ । २२)

'वे पुरुषोंमें सिंहके समान हैं, मेघवर्ण हैं, चार भुजावाले हैं, वे प्रेमके कारण तुम पाण्डवोंके अधीन हैं और तुमने उनका आश्रय लिया है।'

इन प्रमाणोंसे तो चतुर्भुज मनुष्यरूप मान लेनेमें भी कोई आपत्ति नहीं आती, परन्तु यहाँ वैसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि ४८वें श्लोकमें भगवान्‌ने, **'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः'** आदि कहकर विश्वरूपकी प्रशंसा की है फिर आगे चलकर ५३वें श्लोकमें भी **'नाहं वेदैर्न तपसा'** आदि कहकर करीब-करीब इसी प्रकारकी प्रशंसा पुनः की है। यह प्रशंसा विश्वरूपकी नहीं मानी जा सकती; क्योंकि अत्यन्त समीपमें इस प्रकार पुनरुक्तिदोष आना युक्तिसंगत नहीं है।

दूसरे, वहाँ ५४ वें श्लोकमें यह कहा गया है कि अनन्यभक्तिके द्वारा मैं अपना ऐसा रूप दिखा सकता हूँ, परन्तु विश्वरूपके लिये भगवान् पहले कह चुके हैं कि 'यह मेरा परम तेजोमय विश्वरूप तेरे सिवा दूसरे किसीने पहले नहीं देखा। मनुष्यलोकमें इस विश्वरूपको मैं वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और उग्र तपसे भी तेरे सिवा दूसरेको नहीं दिखा सकता।' इसका यह अर्थ नहीं कि अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्‌का विश्वरूप नहीं देखा जा सकता, या यह भी अर्थ नहीं कि श्रीभगवान् विश्वरूपके दिखलानेमें असमर्थ हैं। अभिप्राय यह है कि जैसा रूप अर्जुनको दिखलाया, वैसा दूसरेको नहीं दिखाया जा सकता। क्योंकि वह महाभारतकालका रूप है। भीष्मादि दोनों सेनाओंके वीर भगवान्‌के दाढ़ोंमें हैं। यह रूप सदा एक-सा नहीं रहता, बदलता रहता है, इसीलिये भगवान्‌ने स्पष्ट कहा कि 'इस नर-लोकमें दूसरे किसीने न तो यह रूप पहले देखा है और न आगे देख सकता है। यद्यपि सञ्जयने भी यह रूप देखा था परन्तु वह समकालीन था। भगवान् श्रीकृष्णने गीतासे पूर्व एक बार कौरवोंकी राजसभामें विश्वरूप दिखलाया था, परन्तु वह रूप इस विश्वरूपसे भिन्न था। तीसरी बात यह है कि इस विशाल विश्वरूपको देखनेके लिये दिव्य चक्षुकी आवश्यकता थी। भगवान्‌ने **'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्'**

कहकर अर्जुनको विश्वरूप देखनेके लिये दिव्य चक्षु दिये थे, परन्तु यहाँ दिव्य चक्षुकी कोई बात नहीं है। अनन्यभक्ति करनेवाला कोई भी उस स्वरूपको देख सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ५२ से ५४ श्लोकमें की गयी महिमा विश्वरूपकी नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि वह महिमा विश्वरूपकी तो नहीं है, परन्तु भगवान्के चतुर्भुज मनुष्यरूपकी है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि वहाँ ५२वें श्लोकमें कहा गया है कि मेरा यह दुर्लभ रूप जो तुमने देखा है, इस रूपको देखनेकी देवता भी सदा आकाङ्क्षा करते हैं—**'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः'**—देवता मनुष्यरूप चतुर्भुजकी आकाङ्क्षा क्यों करने लगे ? वह तो मनुष्योंको भी दीख सकता था, फिर देवताओंके लिये कौन-सी दुर्लभ बात थी ? यदि यह कहा जाय कि देवता विश्वरूपके दर्शनकी आकाङ्क्षा करते हैं सो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि जिसके मुखारविन्दमें दोनों सेनाओंके वीर जा रहे हैं और चूर्ण हो रहे हैं, ऐसे घोर रूपके दर्शनकी आकाङ्क्षा देवतागण क्यों करेंगे ? इससे यही सिद्ध होता है कि दूसरी बार की हुई महिमा भगवान्के देवरूप चतुर्भुजकी है। अर्जुनके **'गदिनं चक्रिणम्'** शब्दोंसे भी यही सिद्ध होता है, क्योंकि नररूप भगवान् तो युद्धमें शस्त्र ग्रहण न करनेकी दुर्योधनसे प्रतिज्ञा कर चुके थे। फिर गदादि धारण करनेके लिये अर्जुन उनसे क्योंकर कहते ! सञ्जयके वचनोंसे भी यही सिद्ध होता है कि पहले भगवान्ने अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार अपना चतुर्भुज देवरूप दिखलाया, फिर तुरंत ही सौम्यवपु द्विभुज मनुष्यरूप होकर अर्जुनको आश्वासन दिया।

चतुर्भुज देवरूपके प्राकट्यके बाद और मनुष्यरूप होनेके पूर्व अर्जुनकी कैसी स्थिति रही इसका कोई वर्णन नहीं मिलता। भगवान्के मनुष्यरूप हो जानेके बाद ही अर्जुन अपनी स्थितिका वर्णन करते हैं कि 'अब मैं अपनी प्रकृतिको प्राप्त हो गया।' इससे अनुमान होता है कि भगवान् श्रीकृष्णके सौम्य मनुष्यरूप धारण करनेपर ही अर्जुन अपनी पूर्व स्थितिमें आये। चतुर्भुज

देवरूप-दर्शनके समय उनकी स्थिति सम्भवतः आश्चर्ययुक्त और हर्षोन्मत्त-सी हो गयी होगी। किन्तु इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसीसे बहुत-से संस्कृत-टीकाकारोंने चतुर्भुज देवरूपके प्रकट होनेका वर्णन नहीं किया। परन्तु सञ्जयके कथनमें इसका स्पष्ट वर्णन है, सञ्जय कहते हैं—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥

(गीता ११।५०)

इस श्लोकका सरल और स्पष्ट अन्वय यों होता है—

वासुदेवः अर्जुनम् इति उक्त्वा भूयः तथा स्वकं रूपं दर्शयामास च पुनः महात्मा सौम्यवपुः भूत्वा एनं भीतम् आश्वासयामास।

अर्थात् 'वासुदेव भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज (देव) रूपको दिखाया और फिर महात्मा कृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत हुए अर्जुनको धीरज दिया।'

उपर्युक्त आधे श्लोकके **'भूयः तथा स्वकं रूपं दर्शयामास'** इन वचनोंसे यह सिद्ध है कि श्रीभगवान्‌ने ४९ वें श्लोकमें जो यह—**'व्यपेतभीः प्रीतमनाः त्वं तद् एव मे इदं रूपं पुनः प्रपश्य।'** अर्थात् 'भयरहित हुआ प्रीतियुक्त मनवाला तू मेरे उसी रूपको देख' कहा था, वही अर्जुनका वाञ्छनीय देवरूप दिखलाया। इसके बादके आधे उत्तरार्धमें पुनः सौम्य मनुष्यवपु होकर धीरज देनेकी बात आ गयी।

ऐसा सीधा अन्वय न लगाकर कोई-कोई **'सौम्यवपु'** को **'स्वकं रूपम्'** का विशेषण मान लेते हैं; परन्तु वैसा नहीं बन सकता; क्योंकि **'स्वकं रूपम्'** द्वितीया विभक्तिका एकवचन और कर्म है, यहाँ **'सौम्यवपु'** महात्मा कृष्णका विशेषण है और कर्तामें प्रथमा विभक्तिका एकवचन है। इसके सिवा ऐसा

****

माननेमें 'भूत्वा' अव्यय भी व्यर्थ हो जाता है। कोई-कोई क्लिष्ट कल्पना करके खींचतानकर ऐसा अन्वय करते हैं—

महात्मा वासुदेवः अर्जुनम् इति उक्त्वा पुनः सौम्यवपुः भूत्वा तथा स्वकं रूपं दर्शयामास च एनं भीतं पुनः आश्वासयामास।

इस अन्वयके अनुसार ऐसा अर्थ बनता है कि भगवान् पहले **सौम्यवपु** हुए और तब अर्जुनको अपना रूप दिखलाया। जब **सौम्यवपु** हो ही गये तो फिर दिखलाया क्या, **सौम्यवपु** होते ही अर्जुनने देख ही लिया। **'भूत्वा'** अव्यय किसी दूसरी क्रियाकी अपेक्षा करता है और वह क्रिया **'आश्वासयामास'** ही होनी चाहिये क्योंकि वही नजदीकमें है। परन्तु इसको न लेकर **'स्वकं रूपं दर्शयामास'** क्रिया लेनेसे अन्वयकी कल्पना अत्यन्त क्लिष्ट हो जाती है और अर्थ भी ठीक नहीं बैठता। 'महात्मा' शब्दको भी 'वासुदेव' का विशेषण नहीं लेना चाहिये; क्योंकि वह **'सौम्यवपु'** के समीप है। परमार्थप्रथा-टीकामें भी यही अर्थ लिया गया है कि भगवान्ने पहले चतुर्भुज देवरूप दिखलाया, पीछे **सौम्यवपु** होकर आश्वासन दिया।

अब यह शङ्का रह जाती है कि अर्जुनने ४५वें श्लोकमें **तदेव (तद् एव)** और ४६ वें श्लोकमें **तेनैव (तेन एव)** यानी उसी रूपको देखनेकी प्रार्थना की है। यहाँ इन **'तत्'** और **'तेन'** शब्दोंसे यह अर्थ निकलता है कि अर्जुनका सङ्केत पहले देखे हुए स्वरूपको देखनेके लिये ही है। यदि यह कहा जाय कि **'तत्'** शब्दसे अत्यन्त समीपका रूप लिया जानेके कारण मनुष्यरूप ही मिलता है सो ठीक है, परन्तु उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो चुका है कि अर्जुनकी प्रार्थना मनुष्यरूप दिखलानेकी नहीं, देवरूप दिखलानेके लिये थी। तब यह शङ्का होती है कि 'क्या वह देवरूप पहले कभी अर्जुनने देखा था और यदि देखा था तो फिर ४१वें और ४२वें श्लोकोंमें प्रभाव न जाननेकी बात उसने कैसे कही ?' इस शङ्काका समाधान यह है कि अर्जुनके **'देवरूपं किरीटिनं गदिनम्' 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन'** आदि शब्दोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि

अर्जुनने किसी समय भगवान्‌के देवस्वरूपका गुप्तरूपसे दर्शन किया था, तभी इतने विशेषणोंसे उसका लक्ष्य करवा रहा है, नहीं तो **'तदेव मे दर्शय देव रूपम्'** इतना ही कहना काफी था, अन्य किसी विशेषणकी आवश्यकता ही नहीं थी। चतुर्भुज देवरूपसे अर्जुनके दर्शन करनेका वर्णन महाभारतमें इससे पूर्व कहीं आया हो तो मुझे ध्यान नहीं है। किन्तु वर्णन न भी आया हो तो भी इन शब्दोंसे यही मान लेना चाहिये कि अर्जुनने किसी समय पहले चतुर्भुज देवस्वरूपका दर्शन किया था। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सभी लीलाएँ ग्रन्थोंमें नहीं लिखी गयीं; उनके चरित्रोंका विस्तारसे वर्णन नहीं मिलता है और यह बात भी गुप्त थी, इसीसे **'तदेव'** 'वही' कहकर अर्जुन इशारा करते हैं।

अब रही प्रभाव न जाननेकी बात, सो यद्यपि ४१वें और ४२वें श्लोकमें आये हुए शब्दोंसे यह प्रतीत होता है कि मानो अर्जुन भगवान्‌के प्रभावको नहीं जानते थे, परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। अपनी लघुता दिखलाना तो भक्तोंका स्वभाव ही होता है। क्योंकि प्रभावके सम्बन्धमें स्वयं अर्जुनने गीतामें इससे पहले कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

(गीता १०। १२-१३)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम एवं परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष, देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद, असित, देवल ऋषि, महर्षि व्यास और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।'

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

(गीता ११ । ३७-३८)

'हे महात्मन् ! ब्रह्माके आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार नहीं करें, क्योंकि हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है वह आप ही हैं। और हे प्रभो ! आप आदिदेव सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जाननेयोग्य और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है।'

इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन भगवान्के प्रभावको जानते थे और उनके प्रेमी भक्त थे। न जानते होते तो ऐसे वचन क्योंकर कहते और क्यों स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे उन्हें **'भक्तोऽसि मे सखा चेति'** कहते और क्यों उनके रथके घोड़े हाँकनेका काम करते। अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे साक्षात् परमात्मा मानते थे, परन्तु कभी न देखे हुए भयङ्कर विराट्रूपको देखकर उन्हें आश्चर्यचकित और भयभीत होकर ४१वें और ४२वें श्लोकमें वैसे वचन कह दिये। इसीलिये भगवान्ने आश्वासन देते हुए उन्हें **'मा ते व्यथा मा च विमूढभावः व्यपेतभीः'** आदि कहकर एवं अपने देवरूपके दर्शन करवाकर निर्भय और शान्त किया। यदि भगवान्का प्रभाव जाननेमें अर्जुनकी यत्किञ्चित् कमी मानी जाय तो गीताके उपदेशसे उनकी भी सर्वथा पूर्ति हो गयी।

****

इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्णने विश्वरूपके बाद अर्जुनको चतुर्भुज देवरूपसे दर्शन दिये और फिर सौम्यवपु द्विभुज मनुष्यरूप होकर उन्हें आश्वासन दिया।

गीतोक्त साम्यवाद

आजकल संसारमें साम्यवादकी बड़ी चर्चा है। सब बातोंमें समताका व्यवहार हो, इसीको लोग साम्यवाद समझ रहे हैं और ऐसा ही उद्योग कर रहे हैं जिससे व्यवहारमात्रमें समता आ जाय। परन्तु विचारकर देखनेसें पता लगता है कि परमात्माकी इस विषम सृष्टिमें सभी व्यवहारोंमें समता कभी हो ही नहीं सकती और होनेकी आवश्यकता भी नहीं है। न संसारमें सबकी आकृति एक-सी है, न बुद्धि, बल, शरीर, स्वभाव, गुण और कर्म आदिमें ही समता है। ऐसी अवस्थामें देश, काल, पात्र और पदार्थोंमें सर्वत्र समानभावसे समता कदापि सम्भव नहीं है। इसीसे ऐसा साम्यवाद सफल नहीं होता और न कभी हो सकता है।

यथार्थ साम्यवादका विकास भारतीय ऋषियोंकी प्रज्ञासे हुआ था, जिसका वर्णन हमारे शास्त्रोंमें खूब मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें तो श्रीभगवान्‌ने जीवन्मुक्तका प्रधान लक्षण 'समता' ही प्रतिपादन किया है। यह 'समता' ही सर्वोच्च साम्यवाद है, यही सच्ची एकता है, यही परमेश्वरका स्वरूप है। यह धर्ममय है, इसमें अमर्यादित उच्छृङ्खल जीवनको अवकाश नहीं है, यह परम आस्तिक है, रसमय है, शान्तिप्रद है, रहस्यमय है, समस्त दुःखोंका सदाके लिये नाश करनेवाला है, मुक्ति देनेवाला है अथवा साक्षात् मुक्तिरूप ही है; इसमें स्थित होनेका नाम ही ब्राह्मी स्थिति है। जो पुरुष इस साम्यवादमें स्थित है वही स्थितप्रज्ञ है, वही गुणातीत है, वही ज्ञानी है, वही भक्त है और वही जीवन्मुक्त है। यह साम्यवाद केवल कल्पना नहीं है; आचरणके योग्य है और इसका आचरण सभी कोई कर सकते हैं, यह समता ही परमात्मा है। जिसने सर्वत्र ऐसी समता प्राप्त कर ली, उसने मानो समस्त संसारको जीतकर परमात्माको ही प्राप्त कर लिया। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(५।१९)

'जिनका मन समत्वभावमें स्थित है उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया, अर्थात् वे जीते हुए ही संसारसे मुक्त हैं; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

जहाँ यह समता है, वहीं सर्वोच्च न्याय है; न्याय ही सत्य है और सत्य परमात्माका स्वरूप है; जहाँ परमात्मा है, वहाँ नास्तिकता, अधर्म-भावना, काम, क्रोध, लोभ, मोह, असत्य, कपट, हिंसा आदिके लिये गुंजाइश ही नहीं है। अतएव जहाँ यह समता है, वहाँ सम्पूर्ण अनर्थोंका अत्यन्त अभाव होकर सम्पूर्ण सद्गुणोंका विकास आप ही हो जाता है। क्योंकि अनुकूलता-प्रतिकूलतासे ही राग-द्वेषादि सब दोषों और दुराचारोंकी उत्पत्ति होती है और समतामें इनका अत्यन्त अभाव है, इसलिये वहाँ किसी प्रकारके दोष और दुराचारके लिये स्थान नहीं है।

समता साक्षात् अमृत है, विषमता ही विष है ? यह बात संसारमें प्रत्यक्ष देखी जाती है। इसलिये सम्पूर्ण पदार्थों, सम्पूर्ण क्रियाओं और सम्पूर्ण चराचर भूतोंमें जिनकी समता है वे ही सच्चे महापुरुष हैं। इस समताका तत्त्व सुगमताके साथ भलीभाँति समझानेके लिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें अनेकों प्रकारसे सम्पूर्ण क्रिया, भाव, पदार्थ और भूतप्राणियोंमें समताकी व्याख्या की है। जैसे—

मनुष्योंमें समता

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(६।९)

****

'(जो पुरुष) सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओं और पापियोंमें भी समानभाववाला है, वह अति श्रेष्ठ है।'

मनुष्यों और पशुओंमें समता

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५।१८)

'ज्ञानीजन विद्याविनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी और कुत्तेमें एवं चाण्डालमें भी समभावसे देखनेवाले होते हैं।'

सम्पूर्ण जीवोंमें समता

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी (सबमें सम देखता है), वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

कहीं-कहींपर भगवान्ने व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ और भावकी समताका एक ही साथ वर्णन किया है। जैसे—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

(१२।१८)

'(जो पुरुष) शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादिमें सम है और (सब संसारमें) आसक्तिसे रहित है (वह भक्त है)।'

यहाँ शत्रु-मित्र 'व्यक्ति'के वाचक हैं, मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

(गीता १४। २४)

'(जो) निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ दुःख-सुखको समान समझनेवाला है, (तथा) मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है, (तथा) जो प्रिय और अप्रियको तुल्य समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है (वही गुणातीत) है।'

इसमें भी दुःख-सुख 'भाव' हैं, लोष्ट, अश्म और काञ्चन 'पदार्थ' हैं, प्रिय-अप्रिय 'सर्ववाचक' हैं और निन्दा-स्तुति 'परकृत क्रिया' हैं।

इस प्रकार जो सर्वत्र समदृष्टि है, व्यवहारमें अहंता-ममता रहते हुए भी जो सबमें सर्वत्र समबुद्धि रहता है, जिसका समष्टिरूप समस्त संसारमें आत्मभाव है वह समता-युक्त पुरुष है, और वही सच्चा साम्यवादी है।

इस समताका सम्बन्ध प्रधानतया आन्तरिक भावोंसे है; इसमें सर्वत्र समदर्शन है, समवर्तन नहीं है। यह समत्व बाहरी व्यवहारोंमें सर्वत्र एक-सा नहीं है। बाहरी व्यवहारोंमें तो दाम्भिक और शास्त्रकी अवहेलना करनेवाले भी ऐसा कर सकते हैं। इस समताका रहस्य इतना गूढ़ है कि क्रिया और व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहते हुए भी इसमें वस्तुतः कोई बाधा नहीं आती। बल्कि देश, काल, जाति और पदार्थोंकी विभिन्नताके कारण कहीं-कहीं तो बाहरी व्यवहारमें विषमता न्यायसङ्गत और आवश्यक समझी जाती है। परन्तु वह विषमता न तो दूषित है और न उससे असली समतामें कोई अड़चन ही आती है।

एक विपद्ग्रस्त देश है और दूसरा सम्पन्न है, इन दोनों देशोंमें व्यवहारमें विषमता रहेगी ही; विपद्ग्रस्त देशकी सेवा करना आवश्यक होगा, सम्पन्न

देशकी नहीं। व्यवहारकी इस विषमताकी आवश्यकताको कौन दूषित बतला सकता है ? हाँ, उस विपत्तिग्रस्त देशमें यदि ममता और स्वार्थके भावसे दुःखी लोगोंकी सेवामें भेद किया जाय तो वह विषमता अवश्य दूषित है। मान लीजिये, एक जगह बाढ़ आ गयी; लोग डूब रहे हैं। वहाँ यदि यह भाव हो कि अमुक यूरोपियन है, हम भारतीय हैं, इससे भारतीयको ही बचावेंगे, यूरोपियनको नहीं; अथवा अमुक मुसलमान है, हम हिन्दू हैं, हम अपनी जातिवालेकी रक्षा करेंगे, विजातीयकी नहीं। इस प्रकारकी देश और जातिगत आन्तरिक भेदबुद्धिजनित विषमता अवश्य दूषित है। आपत्तिकालमें देश, काल, जाति और कुटुम्बका अभिमान त्याग कर सबकी समभावसे सेवा करनी चाहिये। ममता, स्वार्थ और आसक्तिवश जो देश, काल, पदार्थ, जाति आदिमें विषमताका व्यवहार किया जाता है वास्तवमें वही विषमता है ऐसी विषमता महापुरुषोंमें नहीं होती।

इसी प्रकार काल-भेदसे भी व्यवहारमें विषमता रहती है, हम रातको सोते हैं, दिनमें व्यवहार करते हैं, प्रातःसायं सन्ध्या-वन्दनादि ईश्वरोपासना करते हैं; यह विषमता आवश्यक है। ऐसे ही जिस समय दुर्भिक्ष पड़ता है, उसी समय अन्नदान दिया जाता है। जलदान ग्रीष्ममें आवश्यक है, सर्दीमें उतना नहीं। वस्त्रदान शीतमें आवश्यक है, गर्मीमें इतना नहीं। अग्नि जलाकर जाड़ेमें तापा जाता है, गर्मीमें नहीं। छाता वर्षाकालमें लगाया जाता है, जाड़ेमें नहीं लगाया जाता। परन्तु यह विषमताका व्यवहार सर्वथा युक्तियुक्त ही नहीं, आवश्यक माना जाता है।

खान-पान और व्यवहारमें गौ, कुत्ते, हाथी, चाण्डाल और ब्राह्मणमें विषमता सर्वथा युक्तियुक्त है। गौ और हाथीका खाद्य घास-पात है, मनुष्यका नहीं। कुत्ता मांस भी खाता है, परन्तु वह गौ तथा हाथीके लिये उपयोगी नहीं; मनुष्यके लिये तो अत्यन्त ही अनुपयोगी है। इन सबका परस्पर एक दूसरेके साथ खान-पान कभी सम्भव नहीं। कोई भी बुद्धिमान् पुरुष इन पाँचों

प्राणियोंके साथ व्यवहारमें समताका प्रतिपादन नहीं कर सकता। मनुष्य और पशुकी बात तो अलग रही, तीनों पशुओंमें भी व्यवहारमें बड़ी विषमता है। हाथीकी जगह कुत्तेपर सवारी कोई नहीं कर सकता, गौकी जगह कुतियाका दूध नहीं पिया जा सकता। जो लोग समदर्शनको समवर्तन सिद्ध कर व्यवहारमें अभेद लाना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसका मर्म ही नहीं समझते। इनका भेद तो प्रकृतिगत है जो किसी तरह भी मिटाया नहीं जा सकता। परन्तु हाँ, इन ब्राह्मण, चाण्डाल, हाथी, गौ और कुत्ते आदि किसी भी प्राणीको दुःखकी प्राप्ति होनेपर उसके दुःखको निवारण करके उसको सुख पहुँचानेके लिये वैसा ही समान व्यवहार करना चाहिये जैसा हम अपने हाथ, पैर, मस्तक आदिका दुःख निवारण करके सुख पहुँचानेके लिये करते हैं। इसी प्रकार 'आत्मत्व' भी सबमें ठीक वैसा ही होना चाहिये जैसा हमारा अपनी देहमें है। इसी समताका नाम समता है।

इसी प्रकार मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेमें भी व्यावहारिक भेद आवश्यक है। मिट्टीके ढेलेको सँभालकर रखनेकी जरूरत नहीं, परन्तु सोना सुरक्षित रखना पड़ता है। सोनेके बदले मिट्टी या पत्थरका आदान-प्रदान नहीं हो सकता। इनके संग्रह-ग्रहण, आदान-प्रदान, व्यवहार और मूल्य आदिमें विषमता रहती ही है; परन्तु हाँ, आन्तरिक भावमें इनमें भेद नहीं होना चाहिये। अपना सङ्कट-निवारण करनेके लिये जैसे धनको मिट्टीकी तरह समझकर खर्च किया जाता है, उसी प्रकार न्याय-प्राप्त होनेपर दूसरे प्राणीके हितके लिये भी धनको धूलके समान समझकर व्यवहार करना चाहिये। लोभवश धनका संग्रह करने और न्यायसङ्गत आवश्यकता आनेपर खर्च न करनेमें विषमता है। जहाँ यह विषमता होगी, वहाँ न्यायान्यायका विचार छोड़कर धनका संग्रह होगा और न्यायसङ्गत खर्चमें हिचकिचाहट होगी। अतएव अन्यायसे उपार्जन करनेके समय और न्याययुक्त खर्चके समय धनको धूलके समान सझकर वैसे उपार्जनसे हट जाना और खर्च करनेमें सङ्कोच नहीं करना चाहिये। यही

'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' है। एकके कुछ भी धन नहीं है, दूसरा धन और भोग-पदार्थोंका संग्रह करता है; परन्तु यदि वह अपने और कुटुम्बके लिये या भोगसुखके लिये न करके सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके हितके लिये ही करता है तो इस संग्रहमें विषमता होनेपर भी यह दूषित नहीं है वरं आवश्यक है।

पदार्थोंकी विषमता लीजिये—अग्नि और जलमें विषमता है, विष और अमृतमें विषमता है, मीठे और कटुमें विषमता है, पथ्य और कुपथ्यमें विषमता है। व्यवहारमें पुरुष और स्त्री-जातिमें विषमता है; पुरुष-पुरुषमें भी पिता और पुत्रमें भेद आवश्यक है, स्त्री-स्त्रीमें भी माता और स्त्रीमें भेद रखना धर्म है। अपने ही शरीरमें दाहिने और बायें हाथमें भी व्यवहारका भेद युक्तिसङ्गत है। संसारमें जहाँ विशेष समताका उदाहरण दिया जाता है वहाँ कहा जाता है कि 'ये दोनों हमारे दायें-बायें हाथके समान एक-से हैं।' परन्तु देखा जाता है कि दाहिने-बायें हाथके व्यवहारमें परस्पर बड़ा अन्तर है। खान, पान, दान, सम्मान आदि उत्तम व्यवहार और प्रधान-प्रधान क्रियाएँ अधिकांशमें दाहिने हाथसे की जाती हैं और शौचादि अपवित्र व्यवहार बायेंसे होते हैं। इसी प्रकारका व्यवहारका भेद अपने अङ्गोंमें भी है। पैर, हाथ, मस्तक आदि एक ही शरीरके अङ्ग हैं; परन्तु चरणसे शूद्रका, हाथोंसे क्षत्रियका और मस्तकसे ब्राह्मणका-सा व्यवहार होता है। किसीका सत्कार करते समय सिर झुकाया जाता है न कि पैर सामने किया जाता है। सिरपर लाठी आती हो तो हाथोंकी आड़से उसे बचाते हैं न कि पैरोंकी आड़ की जाती है। पैरोंपर लाठी लगनेकी सम्भावना होनेपर उन्हें सिकोड़कर बैठ जाते हैं और पैरोंको बचाकर हाथोंपर और पीठपर चोट सह लेते हैं। किसी दूसरे मनुष्यके चरणका स्पर्श हो जानेपर मस्तक नवाकर और हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना करते हैं। अङ्ग सभी हमारे हैं, फिर पैर लगा तो क्या और हाथ छू गया तो क्या। परन्तु व्यवहारमें ऐसा नहीं माना जाता। मस्तकके हाथ स्पर्श करनेसे हाथको अपवित्र नहीं मानते;

किन्तु उपस्थ-गुदादि इन्द्रियोंसे छू जानेपर हाथ धोते हैं। जब अपने एक ही शरीरमें व्यवहारका इतना भेद आवश्यक और युक्तियुक्त समझा जाता है, तब देश, काल, जाति और पदार्थोंमें रहनेवाले अनिवार्य भेदको दूषित मानना तो सर्वथा अयुक्त और न्यायविरुद्ध है। इतना भेद होनेपर भी आत्मदृष्टिमें कोई भेद नहीं है। किसी भी अङ्गके चोट् लगनेपर उसे बचानेकी चेष्टा समान ही होती है और दुःख-दर्द भी समान ही होता है। प्रसूति और रजस्वला-अवस्थामें हम अपनी पूजनीया माताके साथ भी अस्पृश्यताका व्यवहार करते हैं; किन्तु वही माता यदि बीमार हो तो हम उसी अवस्थामें आदरपूर्वक उनकी सेवा करते हैं और तदनन्तर स्नान करके पवित्र हो जाते हैं। इसी प्रकार पशु, पक्षी या मनुष्य आदिमें जो अस्पृश्य माने जाते हैं, उनके साथ अन्य समय व्यवहारमें भेद होनेपर भी उनकी दुःखकी स्थितिमें प्रेमपूर्वक सबकी सेवा करनी चाहिये। सेवा करनेके बाद स्नान करनेपर मनुष्य पवित्र हो जाता है। इस प्रकार शास्त्रानुमोदित व्यवहारकी विषमता आवश्यक और उचित है। इसको अनुचित मानना ही अनुचित है। अवश्य ही आत्मामें इससे कोई भेद नहीं आता और न भेद मानना ही चाहिये। भगवान्ने गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६। २९)

'हे अर्जुन ! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है। जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत सङ्कल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत सङ्कल्पके आधार देखता है।'

श्रुति कहती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईश० ६-७)

'जो विद्वान् सब भूतोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सब भूतोंमें देखता है वह फिर किसी भी प्राणीसे घृणा नहीं करता । तत्त्ववेत्ता पुरुषके लिये जिस कालमें सम्पूर्ण भूतप्राणी आत्मा ही हो जाते हैं अर्थात् वह सबको आत्मा ही समझ लेता है, उस समय एकत्वको देखनेवालेको कहाँ शोक और कहाँ मोह है ?'

इस प्रकार व्यवहारमें शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार भगवत्-प्रीत्यर्थ या लोकसंग्रहके लिये ममता और स्वार्थसे रहित होकर न्याययुक्त विषमताका व्यवहार करते हुए भी सबमें उपाधियोंके दोषसे रहित ब्रह्मको सम देखना और राग-द्वेष आदि विकारोंसे रहित होकर मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि समस्त द्वन्द्वोंमें सर्वदा समतायुक्त रहना ही यथार्थ साम्यवाद है । इसी साम्यवादसे परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है ।

आजकलका साम्यवाद ईश्वरविरोधी है और यह गीतोक्त साम्यवाद सर्वत्र ईश्वरको देखता है; वह धर्मका नाशक है, यह पद-पदपर धर्मकी पुष्टि करता है; वह हिंसामय है, यह अहिंसाका प्रतिपादक है; वह स्वार्थमूलक है, यह स्वार्थको समीप भी नहीं आने देता; वह खान-पान-स्पर्शादिमें एकता रखकर आन्तरिक भेदभाव रखता है, यह खान-पान-स्पर्शादिमें शास्त्रमर्यादानुसार यथायोग्य भेद रखकर भी आन्तरिक भेद नहीं रखता और सबमें आत्माको अभिन्न देखनेकी शिक्षा देता है; उसका लक्ष्य केवल धनोपासना है, इसका लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति है; उसमें अपने दलका अभिमान है और दूसरोंका अनादर है, इसमें सर्वथा अभिमानशून्यता है और सारे जगत्में परमात्माको देखकर सबका सम्मान करना है, कोई दूसरा है ही

नहीं; उसमें बाहरी व्यवहारकी प्रधानता है, इसमें अन्तःकरणके भावकी प्रधानता है; उसमें भौतिक सुख मुख्य है, इसमें आध्यात्मिक सुख मुख्य है; उसमें परधन और परमतसे असहिष्णुता है, इसमें सबका समान आदर है; उसमें राग-द्वेष है, इसमें राग-द्वेषरहित व्यवहार है।

अतएव इन सब बातोंपर विचार करके बुद्धिमान् पुरुषोंको इस गीतोक्त साम्यवादका ही आदर करना चाहिये।

★

देश-काल-तत्त्व

देश और कालके सम्बन्धमें हमलोगोंका जो ज्ञान है वह बहुत ही सीमित और सङ्कुचित है। हमलोग प्रायः इस स्थूल देशको ही देश और युग, वर्ष आदि स्थूल कालको ही काल समझते हैं। इनकी गहराईमें नहीं जाते। देश क्या वस्तु है, उसका मूल स्वरूप क्या है; समय या काल क्या वस्तु है और उसका मूल स्वरूप क्या है, इसे ठीक-ठीक हृदयङ्गम कर लेनेपर देश और कालविषयक हमारा अधूरा ज्ञान बहुत अंशोंमें पूर्ण हो सकता है और हमारी दृष्टि सीमित देश और परिमित कालसे परे पहुँच जा सकती है।

विचारणीय विषय यह है कि हम जिस आकाशादिको देश और युग, वर्ष, मास, दिन आदिको काल समझते हैं वह देश-काल तो प्रकृतिसे उत्पन्न है और प्रकृतिके अन्तर्गत है। परन्तु महाप्रलयके समय जब यह कार्यरूप सम्पूर्ण जगत् अपने कारणरूप प्रकृतिमें लय हो जाता है उस समय देश-कालका क्या स्वरूप होता है ? वह देश-काल प्रकृतिका कार्य होता है या कारण ?

इस प्रश्नपर विचार करनेसे यह प्रतीत होता है कि स्थूल देश-काल जिस प्रकृतिरूप देश-कालमें लय हो जाता है वह प्रकृतिरूप देश-काल तो प्रकृतिका स्वरूप ही है और इस प्रकृतिका जो अधिष्ठान है अर्थात् यह प्रकृति अपने कार्य सम्पूर्ण जड दृश्यवर्गके लय हो जानेके बाद भी जिसमें स्थित रहती है, वह अधिष्ठान प्रकृतिका कार्य कभी नहीं हो सकता। वह तो सबका परम कारण है और सबका परम कारण वस्तुतः एकमात्र विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है। उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी अंशमें मूलप्रकृति या माया स्थित है। वह प्रकृति कभी साम्यावस्थामें रहती है और कभी विकारको प्राप्त होती है। जिस समय वह साम्यावस्थामें रहती है उस समय अपने कार्य

समस्त जड दृश्यवर्गको अपनेमें लीन करके परमात्माके किसी एक अंशमें स्थित रहती है और जिस समय वही परमात्माके सकाशसे विषमताको प्राप्त होती है, उस समय उससे परमात्माकी अध्यक्षतामें संसारका सृजन होता है। सांख्य और योगके अनुसार सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके स्वरूप हैं, परन्तु गीता आदि वेदान्तशास्त्रोंके अनुसार ये प्रकृतिके कार्य हैं।

गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। (गीता १४। ५)

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥(१३। १९)

प्रकृतिमें विकार होनेपर पहले सत्त्वगुणकी उत्पत्ति होती है, फिर रजोगुणकी और उसके बाद तमोगुणकी। सत्त्वगुणसे बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुणसे प्राण और कर्मेन्द्रियाँ तथा तमोगुणसे पञ्च स्थूलभूतोंकी उत्पत्ति हुई है। इन्हीं भूतोंमें आकाश है और यही आकाश* हमारे इस व्यक्त स्थूल देशका आधार है। इसी प्रकार हमारा युग, वर्ष, मास, दिन आदिरूप स्थूल काल भी प्रकृतिसे प्रादुर्भूत है। यह देश-कालका स्थूल रूप है। यह जड और अनित्य है। सबका अधिष्ठान होनेसे परमात्मा ही सबको सत्तास्फूर्ति देता है, इस प्रकार वह समस्त ब्रह्माण्डमें प्रत्येक वस्तुमें व्याप्त होनेपर भी इस स्थूल देश-कालसे और इस देश-कालके कारणरूप प्रकृतिसे भी परे है। स्थूल देश-कालको तो हमारी इन्द्रियाँ और मन समझ सकते है; परन्तु सूक्ष्म देश-कालतक उनकी पहुँच नहीं है। महाप्रलयके समय प्रकृति जिस परमात्मामें

---

* यह आकाश प्रकृतिका कार्य होनेसे उत्पत्ति, स्थिति और लय धर्मवाला है। माया यानी प्रकृति इसका आधार है। प्रकृतिका आधार विज्ञानानन्दघन परमात्मा है, यह पोलरूपी आकाश मूल तन्मात्रारूप आकाशका एक स्थूलस्वरूप है। यह पोल समष्टि अन्तःकरणमें है, समष्टि अन्तःकरण मायामें है और माया परमात्मामें वैसे ही है जैसे स्वप्नका देश-काल स्वप्नद्रष्टा पुरुषके अन्तर्गत रहता है। वस्तुतः यह आकाश या पोल परमात्माका संकल्पमात्र है। इस संकल्पका अभाव होनेपर, जिसका संकल्प है, वह अपनी प्रकृतिसहित स्वयं अधिष्ठानरूपसे रहता है, वह किस प्रकार रहता है सो नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि वह वाणीका विषय नहीं है।

स्थित रहती है और जबतक स्थित रहती है, वह अधिष्ठानरूप देश और काल वास्तवमें परमात्मा ही है। वही मूल महादेश और महाकाल है। वह चेतन, उपाधिरहित, नित्य, निर्विकार और अव्यभिचारी है। वह कालका भी महाकाल * और देशका भी महादेश है। सारे काल और देश एक उसीमें समा जाते हैं। परमात्माका यह नित्य सनातन, शाश्वत और चिन्मय स्वरूप ही देश-कालका आधार है। यह सदा-सर्वदा एकरस है। अव्याकृत मूलप्रकृति महाप्रलयके समय इसी परमात्मारूप देश-कालमें रहती है। हमारी बुद्धिमें आनेवाला यह मायारचित जड और अनित्य देश-काल तो बुद्धिका कार्य है, और बुद्धिके अन्तर्गत है। बुद्धि स्वयं मायाका कार्य है। इस मायाके स्वरूपको बुद्धि नहीं बतला सकती; क्योंकि यह बुद्धिसे परे है, बुद्धिका कारण है। इस मायाके दो रूप माने गये हैं—एक विद्या, दूसरा अविद्या। समष्टिबुद्धि विद्यारूपा है और जिसके द्वारा बुद्धि मोहको प्राप्त हो जाती है, वह अज्ञान ही अविद्या है। अस्तु,

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार देश-कालके ये तीन भेद होते हैं—

१- नित्य महादेश या नित्य महाकाल।

२- प्रकृतिरूप देश या प्रकृतिरूप काल।

३- प्राकृत यानी प्रकृतिका कार्यरूप स्थूल देश या स्थूल काल।

इनमें पहला चेतन, नित्य, अविनाशी, अनादि और अनन्त है। शेष दोनों जड, परिवर्तनशील, अनादि और सान्त हैं।

---

* यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥
(कठ० १।२।२४)

'जिस आत्माके ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों भात हैं और मृत्यु जिसका उपसेचन (शाक-दाल आदि) है वह जहाँ है उसे इस प्रकार (ज्ञानीके सिवा और) कौन जान सकता है?'

जिसको सनातन, शाश्वत, अनादि, अनन्त, कालस्वरूप, नित्य, ज्ञानस्वरूप और सर्वाधिष्ठान कहते हैं, निर्विकार परमात्माका वह स्वरूप ही मूल नित्य महादेश और महाकाल है।

महाप्रलयके बाद जितनी देर प्रकृतिकी साम्यावस्था रहती है, वही प्रकृतिरूप काल है और अपने कार्यरूप समस्त स्थूल दृश्यवर्गको धारण करनेवाली होनेसे यह कारणरूपा मूलप्रकृति ही प्रकृतिरूप देश है।

आकाश, दिशा, लोक, द्वीप, नगर और कल्प, युग, वर्ष, अयन, मास, दिन आदि स्थूल रूपोंमें प्रतीत होनेवाला प्रकृतिका कार्यरूप यह व्यक्त देश-काल ही स्थूल देश और स्थूल काल है।

इस कार्यरूप स्थूल देश या स्थूल कालकी अपेक्षा तो बुद्धिकी समझमें न आनेवाला प्रकृतिरूप देश-काल सूक्ष्म और पर है; और इस प्रकृतिरूप देश-कालसे भी वह सर्वाधिष्ठानरूप देश-काल अत्यन्त सूक्ष्म, परातिपर और परम श्रेष्ठ है जो नित्य, शाश्वत, सनातन, विज्ञानानन्दघन परमात्माके नामसे कहा गया है। वस्तुतः परमात्मा देश-कालसे सर्वथा रहित है, परन्तु जहाँ प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारका वर्णन किया जाता है, वहाँ सबको सत्ता- स्फूर्ति देनेवाला होनेके कारण उस सबके अधिष्ठानरूप विज्ञानानन्दघन परमात्माको ही देश-काल बतलाया जाता है। संक्षेपमें यही देश-काल-तत्त्व है।

—★—

अमूल्य शिक्षा

अपने आत्माके समान सब जगह सुख-दुःखको समान देखना तथा सब जगह आत्माको परमेश्वरमें एकीभावसे प्रत्यक्षकी भाँति देखना बहुत ऊँचा ज्ञान है।

चिन्तनमात्रका अभाव करते-करते अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त हो जाय, कोई भी स्फुरणा शेष न रहे तथा एक अर्थमात्र वस्तु ही शेष रह जाय, यह समाधिका लक्षण है।

श्रीनारायणदेवके प्रेममें ऐसी निमग्नता हो कि शरीर और संसारकी सुधि ही न रहे, यह बहुत ऊँची भक्ति है।

नेति-नेतिके अभ्याससे 'नेति-नेति' रूप निषेध करनेवाले संस्कारकी भी शान्त आत्मामें या परमात्मामें शान्त हो जानेके समान ध्यानकी ऊँची स्थिति और क्या होगी ?

परमेश्वरका हर समय स्मरण न करना और उसका गुणानुवाद सुननेके लिये समय न मिलना बहुत बड़े शोकका विषय है।

मनुष्यमें दोष देखकर उससे घृणा या द्वेष नहीं करना चाहिये। घृणा या द्वेष करना हो तो मनुष्यके अंदर रहनेवाले दोषरूपी विकारोंसे करना चाहिये। जैसे किसी मनुष्यके प्लेग हो जानेपर उसके घरवाले प्लेगके भयसे उसके पास जाना नहीं चाहते, परन्तु उसको प्लेगकी बीमारीसे बचाना अवश्य चाहते हैं, इसके लिये अपनेको बचाते हुए यथासाध्य चेष्टा भी पूरी तरहसे करते हैं, क्योंकि वह उनका प्यारा है। इसी प्रकार जिस मनुष्यमें चोरी, जारी आदि दोषरूपी रोग हों, उसको अपना प्यारा बन्धु समझकर उसके साथ घृणा या द्वेष न कर उसके रोगसे बचते हुए उसे रोगमुक्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान् बड़े ही सुहृद् और दयालु हैं, वह बिना ही कारण हित करनेवाले और अपने प्रेमीको प्राणोंके समान प्रिय समझनेवाले हैं। जो मनुष्य इस तत्त्वको जान जाता है, उसको भगवान्के दर्शन बिना एक पलके लिये भी कल नहीं पड़ती। भगवान् भी अपने भक्तके लिये सब कुछ छोड़ सकते हैं, पर उस प्रेमी भक्तको एक क्षण भी नहीं त्याग सकते।

मृत्युको हर समय याद रखना और समस्त सांसारिक पदार्थोंको तथा शरीरको क्षणभङ्गुर समझना चाहिये। साथ ही भगवान्के नामका जप और ध्यानका बहुत तेज अभ्यास करना चाहिये। जो ऐसा करता है, वह परिणाममें परम आनन्दको प्राप्त होता है।

मनुष्य-जन्म सिर्फ पेट भरनेके लिये ही नहीं मिला है। कीट, पतङ्ग, कुत्ते, सूअर और गदहे भी पेट भरनेके लिये चेष्टा करते रहते हैं। यदि उन्हींकी भाँति जन्म बिताया तो मनुष्य-जीवन व्यर्थ है। जिनकी शरीर और संसार [illegible]र्तु क्षणभङ्गुर नाशवान् जडवर्गमें सत्ता नहीं है वही जीवन्मुक्त हैं, उन्हींका [illegible]न्म सफल है।

[illegible]य भगवद्भजनके बिना जाता है वह व्यर्थ जाता है। जो मनुष्य [illegible]समझता है, वह एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खो सकता। भजनसे [illegible]द्ध होती है, तब शरीर और संसारमें वासना और आसक्ति [illegible] बाद संसारकी सत्ता मिट जाती है। एक परमात्मसत्ता ही [illegible]

[illegible] जलके समान है, इस प्रकार समझकर उसमें आसक्ति [illegible] वैराग्य है। वैराग्यके बिना संसारसे मन नहीं हटता और इससे मन हटे बिना उसका परमात्मामें लगना बहुत ही कठिन है, अतएव संसारकी स्थितिपर विचारकर इसके असली स्वरूपको समझना और वैराग्यको बढ़ाना चाहिये।

भगवान् हर जगह हाजिर हैं; परन्तु अपनी मायासे छिपे हुए हैं। बिना

भजनके न तो कोई उनको जान सकता है और न विश्वास कर सकता है। भजनसे हृदयके स्वच्छ होनेपर ही भगवान्‌की पहचान होती है। भगवान् प्रत्यक्ष हैं, परन्तु लोग उन्हें मायाके पर्देके कारण देख नहीं पाते।

शरीरसे प्रेम हटाना चाहिये। एक दिन तो इस शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा, फिर इसमें प्रेम करके मोहमें पड़ना कोई बुद्धिमानी नहीं है। समय बीत रहा है, बीता हुआ समय फिर नहीं मिलता, इससे एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाकर शरीर तथा शरीरके भोगोंसे प्रेम हटाकर परमेश्वरमें प्रेम करना चाहिये।

जब निरन्तर भजन होने लगेगा, तब आप ही निरन्तर ध्यान होगा। भजन ध्यानका आधार है। अतएव भजनको खूब बढ़ाना चाहिये। भजनके सिवा संसारमें उद्धारका और कोई सरल उपाय नहीं है। भजनको बहुत ही कीमती चीज समझना चाहिये। जबतक मनुष्य भजनको बहुत दामी नहीं समझता, तबतक उससे निरन्तर भजन होना कठिन है। रुपये, भोग, शरीर और जो कुछ भी हैं, भगवान्‌का भजन इन सभीसे अत्यन्त उत्तम है। यह दृढ़ धारणा हो ही निरन्तर भजन हो सकता है।

की भी

ची स्थिति

══ ★ ══

गुणानुवाद सुननेके

ा चाहिये। घृणा या

ेवाले दोषरूपी विकारोंसे करना चाहिये।

े घरवाले प्लेगके भयसे उसके पास

ीसे

॥ श्रीहरिः ॥
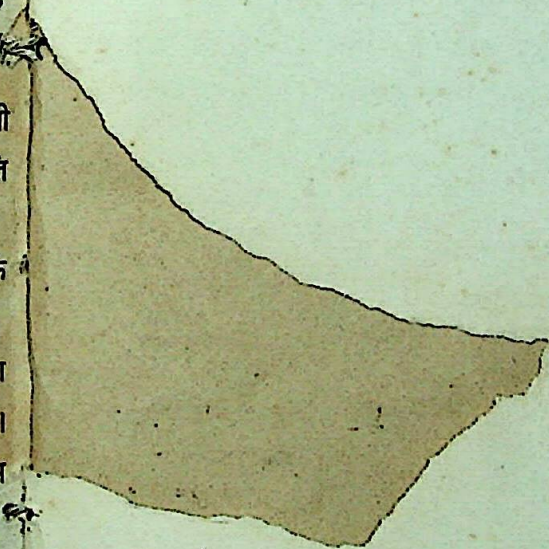
परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकृत कुछ जीवनोपयोगी पुस्तकें—

महत्त्वपूर्ण शिक्षा
परम साधन
आत्मोद्धारके साधन
कर्मयोगका तत्त्व
भक्तियोगका तत्त्व
प्रेमयोगका तत्त्व
ज्ञानयोगका तत्त्व
मनुष्यका परम कर्तव्य भाग १ व २
मनुष्य-जीवनकी सफलता
परम शान्तिका मार्ग
स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा
महाभारतके कुछ आदर्श पात्र
रामायणके कुछ आदर्श पात्र
आत्मोद्धारके सरल उपाय
कल्याणप्राप्तिके उपाय
शीघ्र कल्याणके सोपान
ईश्वर और संसार
अमूल्य वचन
भगद्दर्शनकी उत्कण्ठा
समता अमृत और विषमता विष
भक्ति-भक्त-भगवान्
व्यवहारमें परमार्थकी कला
श्रद्धा-विश्वास और प्रेम
धर्मसे लाभ और अधर्मसे हानि
तत्त्वचिन्तामणि
परमानन्दकी खेती
उद्धार कैसे हो ?
सच्ची सलाह
साधनोपयोगी पत्र
शिक्षाप्रद पत्र
भगवानके रहनेके पाँच स्थान

शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ
अध्यात्मविषयक पत्र
आदर्श भ्रातृ-प्रेम
बालशिक्षा
आदर्श नारी सुशीला
भरतजीमें नवधा भक्ति
ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप
सत्संगकी सार बातें
नारी-धर्म
आदर्श देवियाँ
गीता-निबन्धावली
सत्यकी शरणसे मुक्ति
परलोक और पुर्नजन्म
हमारा कर्तव्य
प्रेमका सच्चा स्वरूप
गीतोक्त संन्यास ...
सामयिक ...
सच्चा सुख
अवतारका सिद्धान्त
त्यागसे भगवत्प्राप्ति
शोकनाशके उपाय
गीताका तात्त्विक विवेचन
भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारी-धर्म